Visit Dwarkadheeshvastu.com For
FREE Vastu Consultancy, Music, Epics, Devotional Videos
Educational Books, Educational Videos, Wallpapers
****
All Music is also available in CD format. CD Cover can also be print with your Firm Name
****
We also provide this whole Music and Data in PENDRIVE and EXTERNAL HARD DISK.
Contact : Ankit Mishra (+91-8010381364, dwarkadheeshvastu@gmail.com)

****

VISHW DHARMKOSH
SATYARTH PRAKASH

(Hindi)

****

विषय-क्रम

1. प्राक्कथन 5
2. सत्यार्थप्रकाश : ऐतिहासिक विश्लेषण 9
3. सत्यार्थप्रकाश-लेखन की प्रेरणा 10
4. द्वितीय संशोधित संस्करण 23
5. सत्यार्थप्रकाश की लोकप्रियता 37
3. ग्रन्थसार (चौदह समुल्लासों का पाठ) 39
4. सत्यार्थ सूक्ति सुधा 76
5. सत्यार्थप्रकाश तथा तद्विषयक साहित्य की समग्र तालिका 86

सत्यार्थप्रकाश—विविध संस्करण, विरोधियों द्वारा छापे गये संस्करण, सत्यार्थप्रकाश के संक्षिप्त संस्करण, सत्यार्थप्रकाश विभिन्न समुल्लासों का पृथक प्रकाशन, सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद, सत्यार्थप्रकाश : अंग्रेजी में संक्षिप्त संस्करण, सत्यार्थप्रकाश : पृथक्-पृथक् समुल्लासों का अंग्रेजी अनुवाद, सत्यार्थप्रकाश व्याख्या, टीका, भाष्य आदि, सत्यार्थप्रकाश पर लिखे गए आलोचनात्मक, विवेचनात्मक ग्रन्थ, सत्यार्थप्रकाश—आलोचनात्मक उर्दू ग्रन्थ, Critical Books on the Satyartha Prakash, सत्यार्थप्रकाश—पद्यानुवाद, सत्यार्थप्रकाश विषयक पद्य रचना, सत्यार्थप्रकाश विषयक खण्डनात्मक साहित्य : पौराणिकों द्वारा खण्डन, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः

6. परिशिष्ट 126

प्राक्कथन

ऋषि दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश से मेरा परिचय साठ वर्ष पुराना है। मैं जब दस-ग्यारह वर्ष का ही था, मैंने इस ग्रन्थ का नाम सुना और अपने जन्म के गाँव परबतसर (ज़िला नागौर) के निवासी श्री दानमलजी सिंहवी से उसकी एक प्रति पठनार्थ प्राप्त की। अपरिपक्व बुद्धि के कारण उस अवस्था में सत्यार्थप्रकाश जैसे शास्त्रीय ग्रंथ को अक्षरशः समझना तो सम्भव ही नहीं था। मेरी गाड़ी तो पहले समुल्लास में ही अटक गई जहाँ ऋषि ने परमात्मा के सौ नामों की सिद्धि व्याकरणजन्य व्युत्पत्तियों के आधार पर की है, किन्तु इतना अवश्य समझ में आया कि परमात्मा का मुख्य नाम 'ओम्' है। अन्य नाम उसके गुणों, स्वभाव तथा दिव्य कर्मों के आधार पर निर्धारित किये गए हैं। इसके बाद मेरी नज़र ग्यारहवें समुल्लास पर गई जहाँ ऋषि ने पुराणों के आधार पर चले आर्यावर्तीय मतों एवं सम्प्रदायों की आलोचना की है। इसमें भी मूर्तिपूजा-खण्डन के प्रसंग विशेष रोचक लगे, क्योंकि तीसरी श्रेणी में जब मैंने ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनियों की एक पाठ्य पुस्तक पढ़ी थी तो मुझे कबीर, मार्टिन लूथर, राजा राममोहन राय तथा ऋषि दयानन्द के मूर्तिपूजा-विरोधी विचारों ने अत्यन्त

प्रभावित किया था। इस प्रकरण में भी वह प्रसंग अधिक रुचिकर लगा जिसमें यह उल्लिखित हुआ है कि किस प्रकार धूर्त और वंचक वृत्ति के लोग पहले तो किसी देवमूर्ति को धरती में गाड़ देते हैं और उसके बाद किसी सेठ-साहूकार को यह कहकर बहकाते हैं कि 'अमुक देवता ने मुझे स्वप्न में कहा है कि मैं अमुक जगह धरती में दबा हूँ। तू मुझे वहाँ से निकाल और अमुक धनी व्यक्ति को कहकर मेरा मंदिर बनवा, वहाँ मेरी उसी मूर्ति की स्थापना कर तथा तू स्वयं उस मंदिर का पुजारी बन।' आदि।

कालान्तर में मैंने वैदिक पुस्तकालय अजमेर से सत्यार्थ-प्रकाश की एक प्रति वी.पी.पी. से मँगाई। पुस्तक का मूल्य तो सात आने था, किन्तु डाक-व्यय आठ आने लगे। यह संतोष अवश्य रहा कि यह अमर ग्रंथ मेरे पास है। मेरे पितामह के संग्रह में उर्दू सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति थी, किन्तु उर्दू से अनभिज्ञ होने के कारण वह मेरे लिए उपयोगी नहीं थी। कालान्तर में स्वाध्याय के बल पर मैंने इस ग्रंथ का विशद अध्ययन किया। जोधपुर की आर्यसमाजों में वर्षों तक साप्ताहिक सत्संगों में इस ग्रंथ की कथा करता रहा। इस ग्रंथ के बारे में पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र तथा पं० कालूराम शास्त्री आदि पौराणिक विद्वानों ने 'दयानन्द तिमिर भास्कर' आदि आक्षेपात्मक ग्रंथ लिखे थे, उन्हें भी 'श्री सुमेर राजकीय पुस्तकालय' से लेकर पढ़ा तथा उनकी निरर्थकता को अनुभव किया। वर्षों के अध्ययन तथा चिन्तन ने इस ग्रंथ के प्रतिपाद्य को मेरे लिए सुलभ कर दिया।

हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथों में गीता तथा रामचरितमानस के पश्चात् सम्भवतः सत्यार्थप्रकाश ही सर्वाधिक प्रचारित,

प्रसारित, मुद्रित एवं प्रकाशित ग्रंथ है जिसकी लाखों प्रतियाँ जनता तक पहुँची हैं तथा बीसियों देशी-विदेशी भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं। मेरी जानकारी के मुताबिक सत्यार्थप्रकाश हिन्दी-समेत 22 भाषाओं में उपलब्ध है। ये भाषाएँ हैं—1. हिंदी, 2. संस्कृत, 3. पंजाबी, 4. सिंधी, 5. गुजराती, 6. मराठी, 7. तमिल, 8. तेलुगु, 9. कन्नड़, 10. मलयालम, 11. उड़िया, 12. बँगला, 13. असमिया, 14. नेपाली, 15. उर्दू।

विदेशी भाषाएँ—16. फ्रैंच, 17. इंगलिश, 18. जर्मन, 19. चीनी, 20. बर्मी, 21. स्वाहिली तथा 22. थाई।

सूचना के लिए यह लिखना भी आवश्यक है कि सत्यार्थप्रकाश के ये सभी अनुवाद, प्रथम संस्करण जो 1875 में छपा तथा विभिन्न प्रकाशकों द्वारा छपे विभिन्न संस्करण (संख्या में लगभग 75), मेरे पुस्तकालय में विद्यमान हैं। इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश के सरल, संक्षिप्त संस्करण, टीका, भाष्य, व्याख्या आदि से संबंधित लगभग 150 ग्रंथ भी मेरे संग्रह में हैं। सम्भवतः सत्यार्थप्रकाश-विषयक इतनी अधिक पाठ्य सामग्री अन्यत्र मिलना कठिन है। सत्यार्थप्रकाश पर अब तक सैकड़ों ग्रंथ हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती आदि भाषाओं में लिखे गए हैं। इन सबका परिचय देना तो एक पृथक् ग्रंथ की अपेक्षा रखता है। लाहौर के पं० चमूपति ने प्रथम दो समुल्लासों पर विस्तृत भाष्य लिखा जो अब अनुपलब्ध है। कुछ वर्ष पूर्व स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने सहस्राधिक पृष्ठों के दो खण्डों में सत्यार्थभास्कर शीर्षक विशद ग्रंथ लिखा जिसमें मूल ग्रंथ के साथ उसके प्रत्येक विषय की सप्रमाण, सोपपत्तिक विवेचना की गई है। विभिन्न

मत सम्प्रदायों के लोगों ने इस ग्रंथ में की गई अपने विचारों की आलोचना से कुण्ठित होकर इसके खण्डन में अनेक पुस्तकें लिखीं जिनका उत्तर पुनः आर्य लेखकों ने दिया। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश तथा उससे सम्बन्धित साहित्य भारत के धार्मिक वाङ्मय में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुका है।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण आज से 125 वर्ष पूर्व 1875 ई० में प्रकाशित हुआ था, अतः यह वर्ष इस अमर ग्रंथ की 125वीं जयन्ती का वर्ष है। आज से ठीक 75 वर्ष पूर्व स्व० गोविन्दराम जी ने अपने प्रकाशन-संस्थान 'आर्य साहित्य भवन, कलकत्ता' के द्वारा सत्यार्थप्रकाश का लोकप्रिय सस्ता संस्करण प्रकाशित कर इस उपयोगी ग्रंथ को जनसाधारण के लिए सुलभ कर दिया था। हर्ष का विषय है कि उन्हीं श्री गोविन्दराम जी के पौत्र श्री अजयकुमार ने सत्यार्थप्रकाश-विषयक इस विवेचनात्मक ग्रंथ को प्रकाशित कर अपने यशस्वी पूर्वजों की कीर्ति को बढ़ाया है।

—भवानीलाल भारतीय

सेवानिवृत्त प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
दयानन्द शोध पीठ, पंजाब वि०वि०

भाद्रपद पूर्णिमा 2056 वि०
रत्नाकर, नन्दन वन, जोधपुर

सत्यार्थप्रकाश : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक नव जागरण के अग्रदूत स्वामी दयानन्द सरस्वती की अद्वितीय साहित्यिक कृति है—सत्यार्थप्रकाश। इसे विश्व के धार्मिक और साम्प्रदायिक विचार-समूह का नवनीत तथा दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन का सार-सर्वस्व कहा जा सकता है। सत्यार्थप्रकाश दो भागों में विभाजित है : पूर्वार्द्ध—जिसमें दस समुल्लास हैं, तथा उत्तरार्द्ध—जिसमें चार समुल्लास हैं। प्रथम दस समुल्लास मानव-जीवन के विधायक कर्त्तव्यों का विवेचन करते हैं तथा वैदिक धर्म की उस विचारधारा, दार्शनिक मान्यता तथा साधना-पद्धति का उल्लेख करते हैं जो मनुष्यमात्र के लिए स्वीकरणीय तथा आचरणीय है। इन दस समुल्लासों में क्रमशः ईश्वर तथा उसके अनेक नाम, बालकों की शिक्षा, उच्चतर शास्त्रीय शिक्षण-व्यवस्था, गार्हस्थ्य धर्म और उसकी आनुषंगिक समस्याएँ, वानप्रस्थ और परिव्राजक के कर्त्तव्य कर्म, राजा और प्रजा के अन्योन्याश्रित धर्म, वेद और उसका सार्वभौम स्वरूप, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और

प्रलय-विषयक वैदिक चिन्तन, जीवात्मा के बंधन और मोक्ष का रहस्य तथा आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषय वर्णित और विवेचित हुए हैं।[1]

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में लेखक ने क्रमशः आर्यावर्तीय मत-मतान्तर, चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि एतद्देशीय नास्तिक (अवैदिक) मत तथा ईसाई एवं मुसलमानी मतों की आस्थाओं, मान्यताओं तथा धारणाओं का सप्रमाण, सतर्क खण्डन किया है। इस प्रकार धर्म के विधेयात्मक पक्ष का समग्र विवेचन करने के पश्चात् लेखक ने यह भी बता दिया कि संसार में नाना मत-मतान्तरों की उत्पत्ति और प्रचार के लिए मनुष्य का अज्ञान, हठ, दुराग्रह और अंधविश्वास ही उत्तरदायी है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य शीर्षक प्रकरण लिखकर धर्म के उन मूलभूत तत्त्वों की परिभाषा और व्याख्या उपस्थित की है जो इस देश में ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनिपर्यन्त ऋषि-मण्डली को मान्य रही।[2] दयानन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं।

सत्यार्थप्रकाश-लेखन की प्रेरणा

सत्यार्थप्रकाश जैसे विश्व-धर्म के अद्वितीय कोशरूपी ग्रन्थ को लिखने की प्रेरणा स्वामी दयानन्द को उनके अनुयायी, राजा जयकृष्णदास से मिली। राजा साहब

---

1. इस विवेचन में विभिन्न वैदिक शास्त्रों के अपेक्षित उद्धरणों के अतिरिक्त मनुस्मृति से सर्वाधिक श्लोक उद्धृत किये गए हैं।
2. स्वामी दयानन्द इसे 'सर्वतंत्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म' कहते हैं।

मुरादाबाद के निवासी थे। वे राणायनीय शाखा के सामवेदी, माथुर, चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। उन्होंने बिजनौर, वाराणसी तथा मुरादाबाद आदि स्थानों में डिप्टी कलक्टर का कार्य किया था। ब्रिटिश सरकार से इन्हें सी.एस.आई. की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। स्वामी जी से जब राजा साहब की काशी में भेंट हुई तो उन्होंने श्री महाराज से निवेदन किया कि वे अपने सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए एक ऐसा ग्रन्थ लिख दें जो उन सब लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा जिन्हें स्वामी जी के साक्षात् उपदेश श्रवण करने का अवसर प्राप्त नहीं होता। फलतः स्वामी जी ने इस महान् ग्रन्थ के लेखन का संकल्प किया। राजा महोदय ने न केवल इस ग्रन्थ के मुद्रण और प्रकाशन का भार वहन करने की ही स्वीकृति दी, अपितु पं० चन्द्रशेखर नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण को भी स्वामी जी की सेवा में नियुक्त किया[1] जो ग्रन्थ-लेखन में उनकी सहायता करता था। यह सहायता इसी रूप में थी कि स्वामी जी बोलते जाते थे और पं० चन्द्रशेखर लिखते जाते थे। ग्रन्थ-लेखन का कार्य 12 जून 1874 को आरम्भ हुआ[2] तथा सितम्बर 1874 में समाप्त हुआ।[3]

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण 1875 ई० में प्रकाशित हुआ। प्रथमावृत्ति के प्रकाशक राजा जयकृष्णदास ही थे तथा इसे काशी के मुन्शी हरिवंशलाल ने अपने स्टार

---

1. 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित' भाग 1, पं० घासीराम द्वारा सम्पादित, चतुर्थ संस्करण, पृ० 308
2. प्रथम आषाढ़ कृ० 13 सं० 1931 वि० शुक्रवार
3. पं० भगवद्दत्त के मतानुसार।

प्रेस में छापा था। सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया, तब स्वामी जी ने यह आवश्यक समझा कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का परिशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण भी अविलम्ब प्रकाशित हो। फलतः उन्होंने ग्रन्थ का पुनर्लेखन और संशोधन आरम्भ कर दिया। परन्तु द्वितीय संस्करण की चर्चा करने से पूर्व प्रथम संस्करण के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें लिखना भी आवश्यक है!

जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश का मूल पाठ स्वहस्त से न लिखकर लेखक को बोल-बोलकर लिखवाया था। इसका मुद्रण और प्रकाशन भी स्वामी जी की देखरेख में न होकर राजा जयकृष्णदास ने अपने अधिकार ही में कराया था[1], फलतः ग्रन्थ में लेखकजन्य प्रमाद तथा धूर्तता के कारण अनेक सिद्धान्त-विरुद्ध ऐसी बातों का समावेश कर दिया गया जो स्वामी जी के अभीष्ट के प्रतिकूल थीं। अपने व्यस्त जीवन तथा देश के विभिन्न स्थानों में सतत भ्रमण करते हुए उपदेश, शास्त्रार्थ एवं धर्म-प्रचार में अहर्निश लगे रहने के कारण स्वामी जी को इतना भी समय नहीं मिल पाया कि वे अपनी पुस्तक के प्रूफ देख सकें अथवा उसके पाठ का उचित संशोधन भी कर सकें। परिणाम यह निकला कि सत्यार्थप्रकाश में दो ऐसे विषयों का सन्निवेश हो गया जो

---

1. "यह पुस्तक श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मेरे व्यय से रची है और मेरे ही व्यय से यह मुद्रित हुई है। उक्त स्वामी जी ने इसका स्वत्वाधिकार मुझको दे दिया है और उसका मैं अधिष्ठाता हूँ।"

राजा जयकृष्णदास का निवेदन-1, सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण

स्वामी दयानन्द की मान्यताओं के प्रतिकूल थे। ये विषय थे मृत पितरों का श्राद्ध तथा यज्ञ में पशुहिंसा एवं मांसभक्षण। मृत पितरों के श्राद्ध के विषय को ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करनेवाले पंडित ने इस प्रकार सन्निविष्ट किया— "पित्रादिकों में जो कोई जीता होय उसका तर्पण न करै और जितने मर गए होय उनका तो अवश्य करै।"[1] तथा "तर्पण किसका नाम है कि तृप्ति का, और श्राद्ध किसका नाम है जो श्रद्धा से किया जाता है, मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है।"[2] इसी प्रकार मांसभक्षण की विधि भी लिखी गई—"जो पदार्थ आप खाय उसी से पंचमहायज्ञ करै अर्थात् पितृ-देवपूजा भी उसी से करै अर्थात् श्राद्ध और होम उसी से करै। मधुपर्क, विवाहादिक और गौमेधादिक यज्ञ और देव-पितृकार्य, इनमें मांस को जो खाता होय तो उसके वास्ते मांस के पिण्ड करने का विधान है, इससे मांस के पिण्ड देने में कुछ भी पाप नहीं है।"[3]

सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण में लिखी गई इन आक्षेपयोग्य बातों की ओर जब स्वामी जी का ध्यान आकृष्ट किया गया कि आपके ग्रन्थ में मृतक श्राद्ध तथा यज्ञ-कार्य में पशु-मांस का विधान मिलता है जबकि आप इन विधियों का खण्डन करते हैं, तो स्वामी जी ने एक विज्ञापन[4] प्रकाशित

---

1. तृतीय समुल्लास पृ० 42
2. वही पृ० 47
3. चतुर्थ समुल्लास पृ० 149
4. यह विज्ञापन यजुर्वेद-भाष्य के प्रथम व द्वितीय अंक के टाइटिल के चतुर्थ पृष्ठ पर छपा था।

कर इस धूर्ततापूर्ण प्रक्षेप का पर्दाफाश किया। स्वामी जी ने अपना स्पष्टीकरण करते हुए इस विज्ञापन में लिखा—"जो-जो मेरे बनाए सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्य-सूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत-से लिखे हैं उनमें से वेदार्थ के अनुकूल साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूँ।...और जो सत्यार्थप्रकाश 42 पृष्ठ दो पंक्ति...में तथा पृष्ठ 47 पंक्ति 21....इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छप गया है सो लिखने और शोधनेवालों की भूल से छप गया है।"[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मृतक श्राद्ध तथा मांसभक्षण के सम्बन्ध में स्वामी जी का मत प्रारम्भ से ही निषेधात्मक रहा, किन्तु स्वार्थान्ध लेखकों के कुटिल षड्यंत्र के कारण इन विषयों को उनकी प्रमुख कृति में मिला दिया गया। प्रथम संस्करण के प्रकाशक राजा जयकृष्णदास ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि "सत्यार्थप्रकाश में जो मत स्वामी जी का लिखा गया वो जो कुछ पीछे परिवर्तित हुआ उसके लिए स्वामी जी इतने उत्तरदाता नहीं हैं। स्वामी जी को उस समय प्रूफ देखने का अवकाश ही नहीं था। पहले स्वामी जी सभी लोगों को अच्छा समझकर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक वा मुद्रक द्वारा यह सब मत सत्यार्थप्रकाश में छापा गया हो और यह भी हो सकता है कि उनका मत पीछे परिवर्तित हो गया हो।"[2]

---

1. 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास', ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक पृ० 23-24
2. राजा जयकृष्णदास का देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय (स्वामी दयानन्द के

राजा साहब के उपर्युक्त कथन की इस अन्तिम बात में तो कोई सचाई नहीं है कि मृत पितरों के श्राद्ध अथवा देव-पितृ कार्यों में मांसविधान की बात स्वामी जी पहले तो मानते थे, किन्तु पीछे से उनका मत परिवर्तित हो गया। हम अपने कथन की पुष्टि में अनेक प्रमाण दे सकते हैं। 1874 ई० (सत्यार्थप्रकाश का रचनाकाल) से पूर्व भी वे अनेक प्रसंगों में मृतक श्राद्ध तथा यज्ञ में पशुहिंसा का खण्डन कर चुके थे।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त विषयों में स्वामी जी का मत सर्वथा निश्चित एवं निर्णीत ही था कि न तो मृत पितरों का श्राद्ध और न यज्ञ में मांस-बलि वेदविहित है। सत्यार्थप्रकाश के लेखन के आरम्भ होने के लगभग तीन मास पश्चात् ही स्वामी दयानन्द ने 'पंच महायज्ञ विधि' ग्रन्थ लिखा[2] जिसमें उन्होंने जीवित पितरों के श्राद्ध का ही स्पष्ट विधान किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में उपर्युक्त अवैदिक बातों के मिलाने का दायित्व पं० चन्द्रशेखर पर ही है जिसने

सुख्यात जीवनी लेखक) के प्रति कथन—पं० घासीराम सम्पादित जीवन-चरित, भाग 1, पृ० 308 पर उद्धृत

---

1. प्रमाण के लिए द्रष्टव्य—पं० घासीराम सम्पादित जीवन चरित भाग 1, पृ० 309
2. **शशिरामाङ्क चन्द्रेब्दे त्वाश्विनस्य सिते दले।**
   प्रतिपद् रविवारे च भाष्यं वै पूर्तिमागत॥
   अर्थात् यह ग्रन्थ आश्विन शुक्ला प्रतिपदा रविवार सं० 1931 में पूर्ण हुआ।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार की थी।

एक सम्भावना यह भी है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में यह सब सिद्धान्त-विरुद्ध प्रक्षेप ग्रन्थ के प्रकाशक राजा जयकृष्णदास की स्वीकृति या सम्मति से हुए।[1] इस धारणा की भी पुष्टि होती है, क्योंकि राजा जयकृष्णदास ने 1939 वि० में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से एक पंचमहायज्ञविधि प्रकाशित कराई[2] जिसे 'दयानन्द सरस्वती स्वामी विरचितेन भाष्येनानुगतः' कहा गया है, परन्तु आश्चर्य है कि इसमें स्वामी दयानन्द रचित पंचमहायज्ञविधि में लिखित जीवित पितरों के श्राद्ध-विषयक वाक्यों के स्थान पर मृत पितरों के श्राद्ध और तर्पण का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि राजा साहब का मृतक श्राद्ध के प्रति निश्चित आग्रह था और उनकी यह चेष्टा रहती थी कि इसी अवैदिक धारणा को स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में भी येन-केन प्रकारेण प्रक्षिप्त कर सकें।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें स्वामीजी के कतिपय उन प्रगतिशील आर्थिक विचारों की झाँकी हमें उपलब्ध होती है जो किसी

---

1. पं० युधिष्ठिर मीमांसक भी इस विचार से सहमत हैं। द्रष्टव्य—'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास'। पं० श्री नारायण चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में राजा साहब को उदार विचारों का सनातनधर्मी सिद्ध किया है। इसमें पर्याप्त सत्यता है। यों राजा साहब स्वामी जी के विचारों के प्रशंसक भी थे।
2. 'वेदमतानुयायी राजा जयकृष्णदासाज्ञया लक्ष्मणपुरस्थ मुन्शी नवल-किशोर यन्त्रे मुद्रितः', जुलाई 1882 ई०

कारणवश द्वितीय संस्करण में नहीं आ सके।[1]

हम जानते हैं कि भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से विपन्न देश के नागरिक अंग्रेज़ी शासन में लगाए गए नाना करों और वसूलियों से असीम कष्ट भोगते थे। नमक जैसी सर्वजनोपयोगी और आवश्यक वस्तु पर भी भारी कर लगाया गया और उसके बनाने की आज्ञा सर्वसाधारण को प्रदान नहीं की गई। देश को स्वाधीन कराने का जो महायज्ञ 19वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ उसमें एक विशिष्ट आहुति 1930 ई० में नमक-कर के विरुद्ध चलाए गए महात्मा गांधी के उस अभियान के द्वारा पड़ी जबकि महात्मा जी ने अंग्रेजी शासन की इस अत्याचारपूर्ण नीति का विरोध करते हुए नमक-कानून को भंग किया। स्वामी दयानन्द की दूरदर्शिता तथा देश के अशेष दरिद्र जन-समाज के प्रति उनकी संवेदना प्रशंसनीय है, जब हम देखते हैं कि उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में नमक पर लगाए जानेवाले कर तथा जंगलों से लाई जानेवाली लकड़ी आदि पर वसूल की जानेवाली चुंगी का विरोध किया है।

स्वामी जी लिखते हैं, "एक तो यह बात है कि नोन और पोन रोटी में जो कर लिया जाता है वह मुझको अच्छा नहीं मालूम देता क्योंकि नोन के बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं होता, किन्तु सबको नोन आवश्यक होता है और वे मजूरी-मेहनत से जैसे-तैसे निर्वाह करते हैं उनके ऊपर भी

---

1. प्रथम संस्करण की कतिपय अन्य सुन्दर सूक्तियों के लिए द्रष्टव्य—स्वामी आत्मानन्द तीर्थ लिखित 'आदिम सत्यार्थप्रकाश के महत्त्वपूर्ण संस्मरण', प्रकाशक—आर्षयोग विद्यापीठ खरखौदा (मेरठ) 2031 वि०

यह नोन का (कर) दण्ड तुल्य रहता है।'' स्वामी जी की सम्मति में ''गाँजा, भाँग, इनके ऊपर चौगुना कर-स्थापन होय तो अच्छी बात है।''[1]

स्वामी जी यह भी अनुभव करते थे कि देश के दरिद्र ग्रामीण जन जंगल से लकड़ी आदि ईंधन इकट्ठा कर लाते हैं तथा उसे बेचकर स्वनिर्वाह करते हैं अथवा अपने उपयोग में भी लाते हैं। इस प्रकृतिदत्त वन-सम्पदा के उपयोग पर कर लगाना भी शासन का अत्याचार ही है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं—''पौन रोटी[2] से भी गरीब लोगों को बहुत क्लेश होता है क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले आये वा लकड़ी का भार, उनके ऊपर कौड़ियों के लगने से उनको अवश्य क्लेश होता होगा; इससे पौन रोटी का जो कर स्थापन करना, सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं।''[3] स्पष्ट है कि जंगल से घास छीनकर लाने अथवा लकड़ी बेचने पर भी अंग्रेजी सरकार ने चुंगी लगा रखी थी, जिसे गरीबों पर असह्य बोझ समझकर स्वामी जी ने उसका विरोध किया था।

स्वामी जी न्यायालयों में चलाये जानेवालों अभियोगों में भारी स्टाम्प ड्यूटी लगाये जाने के भी विरोधी थे। उनकी

---

1. सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण, पृ० 384
2. जंगलों से प्राप्त वस्तुओं पर लगाई जानेवाली चुंगी को यहाँ पौन रोटी कहा गया है। सम्भवतः यह शब्द 'पौन पोटी' है क्योंकि सरस्वती (प्रयाग) में प्रकाशित उर्दू के प्रसिद्ध कवि मिर्ज़ा ग़ालिब के पत्रों में यह शब्द इसी रूप में प्रयुक्त हुआ है।
3. सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण, पृ० 385

धारणा थी कि भारी स्टाम्प-ड्यूटी से गरीबों को कष्ट होता है और उन्हें उचित तथा सस्ता न्याय मिलने में कठिनाई होती है। प्रत्येक प्रार्थनापत्र और आवेदन पर जो भारी कोर्टफीस लगती है, उसका प्रतिकूल प्रभाव देश की दरिद्र जनता को हो भोगना पड़ता है।[1]

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में बारह समुल्लास ही प्रकाशित हो सके थे। इस प्रकार ईसाई मत और इस्लाम की समीक्षा में लिखे गए दो अवशिष्ट समुल्लास इस संस्करण में स्थान प्राप्त नहीं कर सके थे। जब 1944-45 में मुस्लिम लीग ने सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास की ज़ब्ती का आन्दोलन चलाया था तो लीगी प्रवक्ता प्रायः यह आरोप लगाते थे कि सत्यार्थप्रकाश के त्रयोदश और चतुर्दश समुल्लास स्वामी दयानन्द-रचित हैं ही नहीं, क्योंकि प्रथम संस्करण में ये नहीं छपे थे।[2] उनका कहना था कि

---

1. इस सम्बन्ध में स्वामी जी लिखते हैं—"सरकार कागद (स्टाम्प) को बेचती है और बहुत-सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है, इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है। सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं।"—सत्यार्थ प्रकाश प्र० सं०, पृष्ठ 387
2. पं० भगवद्दत जी के अनुसार "इन दो समुल्लासों का प्रथम संस्करण में न छापे जाने का कारण ग्रन्थ के प्रकाशक राजा जयकृष्णदास का डिपुटी कलेक्टर के पद पर रहना तथा सी०आई०ई० की उपाधि प्राप्त सरकारी अधिकारी होना था। वे ईसाई सरकार को अप्रसन्न कर ईसाइयत का खण्डन करनेवाला अध्याय भला क्यों छापते? इसी प्रकार इस्लाम-मतस्थ नेताओं से भी उनकी मैत्री थी।"
सम्पादक की—'भूमिका', सत्यार्थप्रकाश का गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रकाशित संस्करण 1963 ई०।

आर्यसमाजियों ने बाद में, स्वामी जी की मृत्यु के पश्चात्, ईसाइयों और मुसलमानों का जी दुखाने के लिए इन्हें पीछे से जोड़ दिया है। वस्तुतः यह कथन निरा भ्रान्तिपूर्ण ही था। राजा जयकृष्णदास के पास प्रथम संस्करण की पाण्डुलिपि थी। उसकी फोटोस्टेट प्रति परोपकारिणी सभा के तत्कालीन मंत्री श्री हरविलास शारदा ने 2004 वि० में प्रयासपूर्वक करवाकर सभा के पुस्तक-संग्रह में रख छोड़ी है।[1] इस प्रति को देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम संस्करण भी चौदह समुल्लासों में ही समाप्त हुआ था, किन्तु सम्भवतः शीघ्रतावश शेष दो समुल्लास तथा स्वमन्तव्यामन्तव्य का प्रकरण प्रथम संस्करण में छप नहीं सके। प्रथम संस्करण

---

1. यह प्रति राजा साहब के पौत्र कु० सर जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी के०सी०एस०आई०, आई०सी०एस० (भूतपूर्व सदस्य, भारत के वायसराय की कौन्सिल) के सौजन्य से प्राप्त हुई थी।
इस प्रति के प्रारम्भ में निम्न पाँच श्लोक निबद्ध किये गए थे, परन्तु मुद्रित प्रति में किसी कारण से नहीं छप सके—

दयाया आनन्दो विलसति परस्वात्मविदित-
स्सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदासत्यशरणा॥
तदाख्याभिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा।
स को दान्तश्शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः॥ 1॥
सत्यादर्थप्रकाशाय ग्रन्थस्तेनैव निर्मितः।
वेदादि सत्यशास्त्राणां प्रमाणैर्गुणसंयुतः॥ 2॥
विशेषभागीह वृणोति यो हितं, प्रियोऽत्र विद्यां सुकरोति तात्त्विकीम्।
अशेष दुःखात्तु विमुच्य विद्यया, स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः॥ 3॥
स ततः फलमस्ति हितं विदुषो, ह्यधिकं परमं सुलभन्तु पदम्।
लभतो सुगतो भवतीह सुखी, कपटी सुसुखी भविता न सदा॥ 4॥

में त्रयोदश समुल्लास के अन्तर्गत इस्लाम की समीक्षा तथा चतुर्दश समुल्लास में गौरण्ड मत अर्थात् ईसाई मत की समीक्षा है।

सत्यार्थप्रकाश के इस प्रथम संस्करण की बहुत कम प्रतियाँ सम्प्रति उपलब्ध हैं। इसकी एक विशिष्ट प्रति परोपकारिणी सभा के संग्रहालय में सुरक्षित है जिसके साथ निम्न ऐतिहासिक घटना जुड़ी हुई है—

"श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जी ने यह प्रति उदयपुर के महाराणा श्रीयुत सज्जनसिंह जी को प्रदान की थी। पुनः इसे महाराणा ने शाहपुरा-नरेश श्रीयुत नाहरसिंह जी को प्रदान किया जिसका इतिहास स्वर्गीय श्री पं० भगवानस्वरूप जी न्याय-भूषण ने (जो शाहपुराधीश के भी पूर्ण विश्वासपात्र थे) अनेक बार सुनाया था। यह घटना इस प्रकार है—एक बार श्रीयुत महाराणा सज्जनसिंह जी के दत्तक पुत्र महाराणा फतहसिंह जी ने शाहपुरा-नरेश नाहरसिंह जी को उनकी वैदिक धर्म, आर्यसमाज व ऋषि दयानन्द में अनन्य भक्ति देखकर विनोद में कहा कि "भाई! तुमने अपने बाप-दादों

धर्मात्मा विजयी स शास्त्रशरणो विज्ञानविद्यावरो
धर्मेणैह (यु)तो विकारसहितोऽधर्मस्सु दुःखप्रदः।
येनासौ विधिवाक्यमान मनना सा खण्ड-खण्डीकृतस्-
सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितश्चन्योऽस्तु तादृग्घि सः॥ 5॥

आलोच्य पाण्डुलिपि तथा मुद्रित संस्करण की तुलना के लिए द्रष्टव्य—कविराज धर्मसिंह कोठारी का लेख—'सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण पर एक अपेक्षित, स्पष्टीकरण एवं चर्चा, परोपकारी का 'सत्यार्थप्रकाश अंक', मई 1977 ई०।

का धर्म क्यों छोड़ दिया?'' प्रतिभापूर्ण, प्रत्युत्पन्नमति, तार्किक शाहपुरा-नरेश ने नम्र निवेदन किया कि ''महाराज! मैंने तो नहीं, अपितु बाप-दादों का धर्म तो कदाचित् आपने छोड़ दिया है।'' श्री महाराणा ने पूछा, कैसे? इसका सप्रमाण उत्तर देने हेतु शाहपुरानरेश ने 1-2 दिन का अवकाश माँगा और तत्काल एक विशेष संदेशवाहक को शाहपुरा भेजकर यही प्रति अपने पुस्तकालय से मँगवाई (इसके प्रथम पृष्ठ पर शाहपुरा लायब्रेरी की मोहर भी अंकित है) और राज-दरबार में अपेक्षित समय में श्री महाराणा के समक्ष प्रस्तुत की तथा निवेदन किया—''माननीय महाराणा साहब! यह प्रति आपके पूज्य पिता श्री महाराणा सज्जनसिंह जी ने मुझे प्रदान की थी। उन्हीं की आज्ञानुसार चलकर मैं इस वैदिक धर्म में प्रवृत्त हुआ हूँ, अतः कृपया आप ही विचारिये कि मैंने अपने बाप-दादों का धर्म छोड़ा या आपने?'' इस घटना की पुष्टि इससे भी होती है कि इसी प्रति के अंतिम पृष्ठ 407 के पिछले भाग पर ऊपर एक मुद्रा में एक श्लोक अंकित है जो महाराणा के निज पुस्तकालय के विषय में है जिससे प्रतीत होता है कि उनके पुस्तकालय की पुस्तकों पर इस प्रकार की मोहर अंकित हुआ करती थी। वह श्लोक यह है—

''सज्जनेन नरेन्द्रेण निर्मितं पुस्तकालयम्,
आकरं सारग्रन्थानामिदं वाणिविलासकम्।''

तत्पश्चात् एक गोल मोहर है जिसमें अंकित है ''यह पुस्तक विधिपूर्वक दी गई है।—जयकृष्णदास अवैतनिक सम्पादक''। इस मुहर के बिना पुस्तक क्रय-विक्रय योग्य नहीं हो सकती थी। (ऐसी ही मुहर आरम्भ में टाइटल-

पृष्ठ पर भी है) अस्तु। इसी पृष्ठ पर इस मुहर के नीचे सुप्रसिद्ध श्रीयुत कविराज श्यामलदास जी, प्रथम मंत्री परोपकारिणी सभा द्वारा लिखित एक कुण्डलिया व एक दोहा है जिससे उक्त वृत्तान्त की सचाई प्रमाणित होती है।

कुण्डलिया

श्रीसत्यार्थप्रकाश की पुस्तक परम पवित्र।
दयानन्द प्रेषण करी नृप सज्जन हित अत्र॥
नृप सज्जन हित अत्र वेद-आशय विस्तारक।
अति मुदयुत अवलोक योग्य अधिकारी धारक॥
शाहपुराधिप सुभट नाम नाहर अरिनाशा।
ताकौ सज्जन दियो ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाशा॥ 1॥

दोहा

वेद राम ग्रह इंदु सम, ज्येष्ठ शुक्ल तिथि पंच।
सज्जन आज्ञा तैं कियो, श्यामल काव्य-प्रपंच॥

"अङ्कानां वामतो गतिः" के अनुसार जेठ सुदी पंचमी वि०सं० 1934 इस कुण्डलिया की लेखन-तिथि है।"

द्वितीय संशोधित संस्करण

प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने के पश्चात् स्वामी जी को इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण को प्रकाशित कराने की आवश्यकता अनुभव हुई। वे चाहते थे कि द्वितीय संस्करण पूर्णतः संशोधित तथा परिवर्द्धित हो तथा उसे आद्यन्त दुबारा लिखा जाए। परन्तु वेदभाष्य-लेखन तथा अन्य प्रचार-कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वे इसे इच्छित समय पर तैयार नहीं कर पाए। तथापि स्वामी जी ने द्वितीय संस्करण

का यथोचित पुनर्लेखन कर उसे प्रकाशनार्थ वैदिक यन्त्रालय में भेज दिया। द्वितीय संस्करण की भूमिका उदयपुर में लिखी गई जिसमें ग्रन्थ-रचना के प्रयोजन तथा मत-मतान्तरों के खण्डन के औचित्य का युक्तिपूर्ण विवेचन किया गया है। यह संस्करण स्वामी जी के जीवनकाल में ही मुद्रित होना आरम्भ हो गया था, परन्तु उसका प्रकाशन उनके निधन के लगभग 1 वर्ष पश्चात् 1884 ई० में ही हो सका।

खण्डन-मण्डन के समुल्लासों के लेखन में स्वामी जी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वैदिक धर्म के ही प्रकारान्तर से विकृत रूप शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के ग्रन्थ तो स्वामी जी को उपलब्ध थे, परन्तु जैन मत के ग्रन्थों को प्राप्त करने में उन्हें पर्याप्त कठिनाई हुई।[1] चार्वाक मत की समीक्षा के लिए उन्होंने मुख्यतः माधवाचार्य-कृत 'सर्वदर्शन संग्रह' को आधार बनाया, परन्तु बौद्ध और जैनमत के ग्रन्थ प्राप्त करना सुगम न था। बम्बई आर्यसमाज के मंत्री श्री सेवकलाल कृष्णदास की सहायता से उन्हें कुछ जैन ग्रन्थ प्राप्त हुए। ये ग्रन्थ मुख्यतः जैनियों के दिगम्बर आम्नाय से सम्बन्धित थे। स्वामी जी के जीवन-काल में ही गुजराँवाला (पंजाब) निवासी एक जैन-मतानुयायी श्री ठाकुरदास का सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास में उद्धृत जैन ग्रन्थों की प्रामाणिकता और मान्यता को लेकर स्वामी जी से विवाद भी हो गया था। यह मामला इतना बढ़ा कि ठाकुरदास ने कचहरी जाने की धमकी दी।

---

1. "जैन लोग अपने ग्रन्थों को छिपा रखते हैं। दूसरे मतस्थ को न देते, न सुनाते और न पढ़ाते।" सत्यार्थप्रकाश : भूमिका।

स्वामी जी के कानूनी परामर्शदाता ने इस सम्बन्ध में उचित कार्यवाही की और यह विवाद समाप्त हुआ।[1] 12वें समुल्लास में स्वामी जी ने जैन और बौद्धमत को जो मूलतः एक ही बताया है, यह स्वयं उनकी धारणा नहीं थी। ऐसा उन्होंने जैनमतानुयायी राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद (हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और शैलीकार) लिखित ग्रन्थ 'इतिहास तिमिर नाशक' के आधार पर लिखा था।[2]

स्वामी जी को बाइबिल की एक-दो प्रतियाँ ईसाई धर्म-प्रचारकों से भेंट-रूप में मिली थीं। उस समय तक ईसाई धर्मशास्त्र के विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी हो चुके थे, अतः स्वामी जी को यहूदी (पुराने अहदनामे पर आधारित) तथा ईसाई मत की समीक्षा लिखने में अधिक कठिनाई नहीं हुई।[3] कुरान का एक हिन्दी अनुवाद स्वामी जी की प्रेरणा से किया गया जिसका संशोधन पटना-निवासी मुन्शी मनोहरलाल ने किया था। इसकी हस्तलिखित प्रति परोपकारिणी सभा में सुरक्षित है। सम्भवतः इसी कुरान की अनूदित प्रति को आधार बनाकर स्वामी जी ने 14वें

---

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—दयानन्द दिग्विजयार्क का प्रकरण 'जैन मत मिथ्यात्व प्रदर्शनम्', सम्पादक डॉ० भवानीलाल भारतीय, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली से प्रकाशित।
2. सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास।
3. त्रयोदश समुल्लास मिशन प्रेस इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित पुराना नियम प्रथम भाग (1866 ई० में प्रकाशित) तथा नया नियम (1874 ई० में प्रकाशित) पर आधारित है।—पं० महेशप्रसाद-कृत 'दयानन्द और कुरान' (दूसरी आवृत्ति) पृ० 22

समुल्लास में इस्लाम की आधारभूत धारणाओं का खण्डन किया था।

प्राय: शंका की जाती है कि सत्यार्थप्रकाश में खण्डन-मण्डन के अध्यायों का लेखन क्यों आवश्यक था? क्या लेखक के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था कि वह धर्म के वास्तविक स्वरूप—सत्य अर्थ का प्रकाशन करके ही अपनी लेखनी को विराम देता? इसी में सत्यार्थप्रकाश की सार्थकता होती। क्या उसके लिए एतद्देशीय तथा अन्य देशोत्पन्न मत-मतान्तरों की कठोर एवं आक्रामक समालोचना से विरत होना उचित नहीं था? स्वामी जी को भी इस प्रकार के आक्षेपों की पूर्ण आशंका थी। अत: उन्होंने स्वयं ही ग्रन्थ की भूमिका में मत-मतान्तरों की आलोचना में निहित अपनी तटस्थ किन्तु सारग्राहिणी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखा—"मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादित करना सत्य-अर्थ-प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।"[1]

मत-मतान्तरों की समालोचना में स्वामी दयानन्द पूर्णतया पूर्वाग्रह-मुक्त दृष्टिकोण लेकर प्रवृत्त हुए थे। वे यह अनुभव करते थे कि वैदिक धर्म के दिव्य आलोक से जो मत और सम्प्रदाय जितने दूर चले गए हैं, मानव-जाति को पथभ्रष्ट

1. सत्यार्थप्रकाश : भूमिका

करने में वे उतने ही सक्षम सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार ईसाइयत और इस्लाम जहाँ पैग़म्बरवाद, स्वर्ग एवं नरक की मिथ्या कल्पनाओं तथा अनेक प्रकार के विद्या-विरुद्ध, विज्ञान-विरुद्ध एवं तर्करहित मत-वादों का एक पुञ्जमात्र रह गए हैं, वहाँ भारत में ही उत्पन्न बौद्ध और जैन धर्म में आस्तिक भावना से शून्य वेद-विरोधी सिद्धान्तों का ही बाहुल्य है। और तो और, जो शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदाय किसी-न-किसी रूप में वेद-प्रामाण्य को स्वीकार भी करते हैं, वे भी वेदों की अमल धवल, पावन एवं लोक-कल्याणकारी शिक्षाओं से बहुत दूर हट चुके हैं। अतः सत्यार्थप्रकाशकार के लिए सैमेटिक मतों का खण्डन जितना आवश्यक था, उतना ही आर्यावर्त-देशोत्पन्न साम्प्रदायिक दुराग्रह को चतुर्दिक् फैलाने के लिए उत्तरदायी मत-पन्थों का निराकरण भी अनिवार्य था। इसी देश के करोड़ों लोगों द्वारा अभिमत विभिन्न सम्प्रदायों और मतों का निस्संकोच खण्डन कर स्वामी दयानन्द ने जहाँ अपनी पक्षपातशून्य दृष्टि का परिचय दिया, वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया कि धर्म-संशोधक के लिए खण्डन-मण्डन का कार्य, चाहे वह कितना ही अप्रिय क्यों न हो, अवश्यमेव करणीय होता है।

इस प्रसंग में स्वामी जी लिखते हैं—"यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ, तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतवालों के साथ भी वर्तता हूँ····क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते हैं और दूसरे मत की निंदा, हानि और बंद

करने में तत्पर होते हैं वैसे ही मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन के बाहर हैं।''[1]

स्वामी जी ने अपनी भूमिका में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि किसी ग्रन्थ का अध्ययन करते समय वाक्यार्थबोध के लिए आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य का जानना आवश्यक है। लेखक अपने जिस अभिप्राय को स्पष्ट करना चाहता है, वही उसके वाक्यों से स्फुट 'आकांक्षा' कहलाती है। जिस शब्द में जिस अर्थ को प्रकट करने की जो शक्ति है वह 'योग्यता' है। जिस पद का जिस अन्य पद से सम्बन्ध होता है उसके समीप रखना या बोलना 'आसत्ति' कहलाती है। वक्ता या लेखक के अभिप्राय को ही उसके कथन या लेख से निकालना 'तात्पर्य' कहलाता है, क्योंकि लेखक के विरुद्ध तात्पर्य निकालना सर्वथा अन्यायपूर्ण है।

सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध के लेखन में स्वामी जी को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा था। उपदेशक-अवस्था में आने से पूर्व उन्होंने व्यापक देशाटन, भ्रमण, मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदाय-पंथों के विभिन्न रूपों का दर्शन, विभिन्न पूजा-उपासना-प्रणालियों के सम्यक् आलोचन तथा धार्मिक ग्रन्थों के विपुल अध्ययन के द्वारा धर्म के नाम पर प्रचलित विश्वासों की वस्तुस्थिति को जान लिया था। वे यह भी अनुभव करते थे कि धर्मालोचन तथा मत-समीक्षण का कार्य पर्याप्त कण्टकाकीर्ण होता है, इसलिए सत्यार्थप्रकाश की भूमिका को समाप्त करते-करते उन्होंने यह भी आशंका प्रकट की है कि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् लोग अन्यथा

---

1. सत्यार्थप्रकाश : भूमिका

ही विचार करेंगे। परन्तु उन्हें मानव के विवेक पर भी पूरा भरोसा था। अतः वे यह भी लिखने से नहीं चूके कि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका (ग्रन्थ का) अभिप्राय समझेंगे।

खण्डन-मण्डनप्रधान प्रत्येक समुल्लास के प्रारम्भ में स्वामी जी ने पृथक्-पृथक् अनुभूमिकाएँ लिखी हैं जिनमें उन्होंने तत्-तत् सम्प्रदाय की समीक्षा के विषय में अपने हार्द को स्पष्ट किया है। एकादश समुल्लास में आर्यावर्त (भारत) में जन्मे मतों की आलोचना निबद्ध हुई है, अतः यह आवश्यक था कि वे इस अनुभूमिका में अपने एतद्विषयक आलोचनात्मक दृष्टिकोण को व्यक्त करते। लेखक की यह धारणा है कि महाभारत के युद्ध से पूर्व न केवल इस देश में, अपितु अन्य देशों में भी वैदिक रीति-नीति का ही प्रचलन था और वेदोक्त मान्यताओं को स्वीकार कर संसार के सब देशवासी परस्पर मैत्री और बंधुत्व-भाव में आबद्ध थे। महाभारत का प्रचण्ड युद्ध मानो आर्य संस्कृति के विनाश का अग्रदूत बनकर आया। कौरवों-पाण्डवों के गृह-कलह ने दोनों ओर के वीर पुरुषों का तो विनाश किया ही, उससे आर्य धर्म और वैदिक जीवन-मूल्यों को भी सबसे बड़ा आघात पहुँचा। वैदिक धर्म के प्रवक्ता ऋषि-मुनि धराधाम से लुप्त हो गए। क्षत्रियगण निर्वीर्य, कदर्य और अपदार्थ रह गए। ऐसी स्थिति में अज्ञान और अविद्या के वशवर्ती होकर नाना भ्रान्त मतों का प्रचलित हो जाना स्वाभाविक ही था।

सत्यार्थप्रकाशकार ने वेदविरुद्ध मतों को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया है और अपनी अनुप्रासप्रियता

के कारण उन्हें पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी का नाम दिया। वेदोक्त सिद्धान्तों को विस्मृत किये जाने के परिणामस्वरूप तन्त्र एवं पुराणाश्रित जो मत-पंथ भारत में प्रचलित हुए, उन्हें पौराण मत कहना ही समीचीन है। इन वेदविरुद्ध मतों में भेद-प्रभेद इतने अधिक हैं कि उनको ठीक प्रकार से गिनना भी सम्भव नहीं है। किन्तु स्वामी जी ने वाममार्ग, शैव, वैष्णव, निर्गुण मत आदि अवान्तर मत-सम्प्रदायों का विशद विवेचन और परीक्षण कर यह स्पष्ट कर दिया कि ये सभी मत-पंथ वैदिक धर्म के विकारमात्र ही हैं, जिन्होंने अपने संकीर्ण मत-विश्वासों और बाह्याडम्बरों से धर्म के वास्तविक रूप को छिपा दिया है।

स्वामी जी ने इस अनुभूमिका में अत्यन्त विनम्रतापूर्वक यह लिख दिया है कि अपनी विद्या, बुद्धि और स्वाध्याय के बल पर ही जैसा उनको इन आर्यावर्तीय मत-मतान्तरों का बोध हुआ, वैसा सबके आगे निवेदित कर दिया। लेखक की विनम्रता और आलोचना में निहित उसकी सदाशयता और पक्षपातहीनता इन शब्दों में स्पष्ट ध्वनित होती है— "इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि या विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है।"[1] उनकी दृष्टि में मनुष्य-जन्म की सार्थकता इसी में है कि हम सत्यासत्य का निर्णय करें, न कि व्यर्थ वाद-विवाद द्वारा विरोध बढ़ाएँ; परन्तु साथ ही उनकी यह भी दृढ़ धारणा थी कि "जब तक इस मनुष्य-जाति में परस्पर मिथ्या मत-

1. एकादश समुल्लास की अनुभूमिका।

मतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योन्य को आनन्द न होगा। सत्यार्थप्रकाश के खण्डनप्रधान समुल्लासों के पीछे लेखक की यही दृष्टि थी।

सत्यार्थप्रकाश का संशोधन, सम्पादन एवं पाठ-निर्धारण

सत्यार्थप्रकाश जैसी विख्यात, लोकप्रिय एवं कालजयी पुस्तक के पाठ-संशोधन तथा सम्पादन आदि को लेकर नाना कठिनाइयों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही था। यह हम देख चुके हैं कि समयाभाव के कारण इसके लेखक को अपने जीवनकाल में ही संशोधन करने तथा मुद्रित होते समय उसके प्रूफ देखने का भी समुचित अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत सहस्रों शास्त्रीय तथा अन्य धर्मग्रन्थों के प्रमाणों आदि को भी सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो सका था।[1] कालान्तर

---

1. "द्वितीय संस्करण की भूमिका में इसीलिए श्री महाराज ने स्वयं लिखा—"इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाय, उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा, वैसा ही कर दिया जायगा।" इस पर पं० भगवद्दत की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—"इस लेख में तीन बातें स्पष्ट हैं—1. भूल-चूक से, 2. शोधने में भूल-चूक, 3. छापने में भूल-चूक। इनमें से प्रथम भूल-चूक यही है कि अन्तिम प्रेस-कॉपी के प्रतिलिपि-समय प्रमाणों के पाठ लिपिक ने मूल स्थानों से नहीं मिलाए और उन प्रमाणों के पतों की जाँच नहीं की। श्री स्वामी जी के पास अवकाश का सदा अभाव रहा और उनके पास ऐसे सूक्ष्म काम के लिए योग्य विद्वान्

में जब आर्यसमाजेतर आक्षेपकर्ताओं ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया तथा स्वाध्यायशील, शास्त्रार्थोन्मुख आर्य विद्वानों का भी इधर ध्यान गया तो उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के विविध स्थलों के सम्पादन तथा संशोधन की आवश्यकता अनुभव की। सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण और प्रकाशन का सम्पूर्ण स्वत्व स्वामी दयानन्द के स्वीकार-पत्र के अनुसार परोपकारिणी सभा को ही प्राप्त था, अतः एतद्विषयक चर्चा का सूत्रपात भी सभा के तत्त्वावधान में ही हुआ।

जिस समय सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण का मुद्रण स्वामी जी के जीवनकाल में 'वैदिक यन्त्रालय प्रयाग' में आरम्भ हुआ, उस समय यन्त्रालय के प्रबन्धक पद को मुन्शी समर्थदान सुशोभित कर रहे थे। मुन्शी समर्थदान एक अत्यन्त योग्य, ईमानदार तथा स्वामी दयानन्द के प्रति समर्पित व्यक्तित्ववाले सज्जन थे। स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के मुद्रित होते समय उसकी पाण्डुलिपि में यथोचित सुधार, संस्कार तथा परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार मुन्शी जी को दे रक्खा था।[1] यही कारण है कि कतिपय स्थलों पर

नहीं थे। यह काम होता ही सहायकों के आश्रय पर है। स्वामी जी के आप्तत्व में इस बात से (उद्धृत वचनों के पतों की गड़बड़ी से) अणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता।"

—सम्पादक की भूमिका, गो०हा० संस्करण

---

1. "जो कहीं भाषा असम्बद्ध हो और अभिप्राय वा अक्षर, मात्रा आदि से अशुद्ध हो, उसको तुम ही शोध लिया करो।"

—ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार

मुन्शीजी ने 'स०दा०' (नाम का संक्षिप्त रूप) के साथ अपनी पाद-टिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं। द्वितीय संस्करण सत्यार्थप्रकाश के लेखक द्वारा अनुमोदित परिष्कार के साथ प्रकाशित हुआ था, परन्तु उसमें भी यत्र-तत्र मुद्रणजन्य भूलें रह गई थीं। तृतीय संस्करण का संशोधन पं० ज्वालादत्त तथा पं० भीमसेन शर्मा ने किया। ये दोनों पण्डित यद्यपि पर्याप्त समय तक स्वामी जी की सेवा में ग्रन्थ-लिपिकर्ता, प्रूफ-संशोधक आदि के रूप में कार्य कर चुके थे, परन्तु स्वामी जी उनके कार्य से कभी संतुष्ट नहीं रहे। तृतीय संस्करण के संशोधन में भी इनसे कई भूलें हुई हैं। पंचम संस्करण का संशोधन आर्यपथिक पं० लेखराम द्वारा हुआ। इसके प्रकाशन से पूर्व वे परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में स्वयं उपस्थित होकर सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में मुद्रण की भूलों तथा उद्धरणों के पतों आदि की ओर सभा का ध्यान आकृष्ट कर चुके थे।[1] संशोधनों की समस्या स्वामी जी के ग्रन्थों की स्वत्वाधिकारिणी परोपकारिणी सभा के समक्ष समय-समय पर आती रही, जिसके निराकरण के लिए प्रयत्न भी किये जाते रहे। 29 दिसम्बर 1918 को सभा ने प्रस्ताव-संख्या 13 के अन्तर्गत स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द तथा पं० भगवद्दत्त की एक उपसमिति बनाकर सत्यार्थप्रकाश के संशोधन का काम उसे सौंपा। फलतः 1919 ई० के दिसम्बर मास में पं० भगवद्दत्त जी ने अजमेर में लगभग एक मास रहकर सत्यार्थप्रकाश की 2

1. पं० लेखराम ने ग्रन्थ में उद्धृत विभिन्न प्रमाणों के पते ढूँढ निकाले जो इस संस्करण में छपे।

मूल हस्तलिखित प्रतियों से मुद्रित संस्करण का मिलान किया तथा पाठान्तरों का संकलन किया। इस कार्य में उन्हें स्व० अजीतसिंह सत्यार्थी का सहयोग मिला। इस प्रकार पाण्डुलिपियों से मिलान कर तैयार की गई नई प्रेस-कॉपी 1920 में परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में विचारार्थ प्रस्तुत हुई। सभा द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश का 16वाँ संस्करण भी इसी संशोधित प्रेस-कॉपी के आधार पर छपा, परन्तु इसके संशोधित संस्करण की भूमिका के रूप में लिखा हुआ पं० भगवद्दत्त जी का उपयोगी वक्तव्य इस संस्करण में नहीं छप सका।

1925 ई० में स्वामी दयानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर 'दयानन्द ग्रन्थमाला' (शताब्दी संस्करण) के अन्तर्गत सत्यार्थप्रकाश का सम्पादन पं० विश्वनाथ विद्यालंकार ने किया। जब सिंध (पाकिस्तान) में सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध आन्दोलन चलाया जा रहा था तो चौदहवें समुल्लास में उद्धृत कुरान की आयत-संख्याओं के शुद्धिकरण का कार्य सुप्रसिद्ध अरबी विद्वान् पं० महेशप्रसाद मौलवी, आलिम फ़ाज़िल (अध्यक्ष : अरबी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) के द्वारा 1943 ई० में कराया गया। मौलवी जी ने स्वयं अजमेर आकर यह कार्य सम्पन्न किया। वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित 32वें संस्करण के संशोधक पं० भद्रसेन जी थे। इसमें कुछ नवीन टिप्पणियाँ दी गई हैं तथा अनेक स्थानों पर पाठ-परिवर्तन किया गया है। 34वें संस्करण का सम्पादन कविराज धर्मसिंह [illegible] द्वारा किया गया। उन्होंने इस संस्करण की पाण्डुलिपि तैयार करने में पर्याप्त श्रम किया तथा ग्रन्थ के मूल हस्तलेखों

तथा प्राचीन संस्करणों से मिलान कर पाठ-संशोधन का स्तुत्य कार्य किया।

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों को प्रकाशित करने का सर्वाधिकार परोपकारिणी सभा को प्रदान किया था, परन्तु कॉपीराइट-कानून की अवधि समाप्त हो जाने पर अन्य प्रकाशकों ने भी सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन करना आरम्भ कर दिया। 1981 वि० (1925 ई०) में स्वामी दयानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर 'गोविन्दराम हासानन्द' ने एक संस्करण प्रकाशित किया। इसका सम्पादन पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने किया था। इसी प्रकाशक ने 2019 वि० में पं० भगवद्दत्त जी से सम्पादित करवाकर सत्यार्थप्रकाश का एक अन्य संस्करण प्रकाशित किया। इस संस्करण में पाठ-शोधन तथा उपयुक्त स्थानों पर टिप्पणियाँ देने का कार्य किया गया। सम्पादक की भूमिका में पं० भगवद्दत्त जी ने सत्यार्थप्रकाश के संशोधन और सम्पादन के विगत कालीन प्रयत्नों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। ग्रन्थान्त में ग्रन्थ में उद्धृत शास्त्रीय प्रमाणों की सूची भी प्रस्तुत की गई है। 'आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर' ने सत्यार्थप्रकाश के स्वप्रकाशित तृतीय संस्करण का सम्पादन पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार से कराया।

स्थूलाक्षरी संस्करण—महान् विद्वान् स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने 2013 वि० में सत्यार्थप्रकाश का स्थूलाक्षरों में सटिप्पण संस्करण प्रकाशित किया। यद्यपि पाठ की दृष्टि से इस संस्करण का महत्त्व तो न्यून ही है, क्योंकि सम्पादक ने अपनी दृष्टि से जिन पाठों को त्रुटिपूर्ण या अशुद्ध समझा उन्हें बदलने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ, परन्तु यत्र-

तत्र महत्त्वपूर्ण पाद-टिप्पणियाँ देने तथा ग्रन्थ में उद्धृत वचनों के पते ढूँढ निकालने में स्वामी वेदानन्द जी ने पर्याप्त श्रम किया है। इसी प्रकार का एक स्थूलाक्षरी संस्करण पं० जगदेवसिंह शास्त्री सिद्धान्ती के द्वारा भी सम्पादित किया गया। 'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली' ने पं० सुदर्शन देव शास्त्री से सम्पादित सत्यार्थप्रकाश का जो संस्करण प्रकाशित किया, उसमें द्वितीय संस्करण के अनुकूल पाठ को ही यथावत् रक्खा गया था, परन्तु ऐसा करते समय प्रकाशक ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि द्वितीय संस्करण का पाठ लेखक द्वारा पूर्णतया अनुमोदित होने पर भी उसमें मुद्रणजन्य भूलें तथा उद्धृत ग्रन्थों के पते देने का जो प्रमाद (अधिकांश पते तो दिये ही नहीं गए थे) हैं, उसका निराकरण जब तक मूल प्रतियों से मिलान कर नहीं कर लिया जाता, तब तक मात्र द्वितीय संस्करण (का फोटो-पाठ) प्रकाशित करना ही पर्याप्त नहीं है।

सत्यार्थप्रकाश के पाठालोचन में पं० युधिष्ठिर मीमांसक की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। उन्होंने श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण 2029 वि० में प्रकाशित किया जिसमें द्वितीय संस्करण के आधार पर शुद्ध पाठ-निर्धारण, ग्रन्थ में उद्धृत वचनों का शुद्ध पाठ तथा मूल स्थान-निर्देश, उपयोगी पादटिप्पणियाँ, विभिन्न परिशिष्ट तथा अनुक्रमणिकाएँ आदि दी हैं। इसी संस्करण को कुछ और परिष्कार तथा परिवर्द्धन के साथ 1975 ई० में 'आर्यसमाज स्थापना शताब्दी संस्करण' के रूप में प्रकाशित किया गया। इसमें सम्पादक ने सत्यार्थप्रकाश के 1875 ई० के प्रथम संस्करण के कुछ उपयोगी तथा विशिष्ट

अंशों का संकलन भी परिशिष्ट-भाग में दिया है। इस प्रकार रामलाल कपूर ट्रस्ट के उपर्युक्त दोनों संस्करण सत्यार्थप्रकाश के गम्भीर तथा जागरूक स्वाध्यायशील पाठक के लिए अतीव उपयोगी हैं।

सत्यार्थप्रकाश की लोकप्रियता

सत्यार्थप्रकाश की लोकप्रियता तथा विश्व-मानव के लिए उसकी उपयोगिता इसी बात से विदित होती है कि विगत एक शताब्दी में इस ग्रन्थ के सैकड़ों संस्करण प्रकाशित हुए तथा लाखों प्रतियाँ धर्म-तत्त्व के जिज्ञासु पाठकों के हाथों में पहुँची हैं। स्वदेश-विदेश की बीसियों भाषाओं में उसके अनुवाद हुए हैं। सत्यार्थप्रकाश के पृथक् समुल्लासों पर टीका-टिप्पणी तथा भाष्य, व्याख्यादि लेखन का कार्य भी प्रचुर मात्रा में हुआ है।[1] संसार के सभी प्रमुख देशों के पुस्तकालयों में इस ग्रन्थ की प्रतियाँ विद्यमान हैं। जिन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं ने सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन करते समय उसमें निहित लेखक के हार्दिक भाव को भलीभाँति हृदयंगम नहीं किया, उन्हें तो इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ ही हुई हैं, किंतु जो सत्यासत्य और धर्माधर्म के विवेक की दृष्टि से इसे अपने अध्ययन का विषय बनाते हैं, वे ही लेखक के आशय को समझने में सफल होते हैं।

सत्यार्थप्रकाश में अन्य मत-मतान्तरों की जो तथ्याश्रित

1. इसी ग्रन्थ में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश वाङ्मय।

आलोचना की गई है, उसके प्रयोजन को समझने में बहुतों से भूल हुई है। सामान्य पाठक की तो बात ही क्या, महात्मा गांधी जैसे विचारशील महापुरुष भी सत्यार्थप्रकाश के खण्डनात्मक अंश में लेखक की सदाशयता को नहीं समझ पाए और इसे 'निराशाजनक' पुस्तक कह बैठे। मतान्ध तथा साम्प्रदायिक भावापन्न पण्डे-पुजारी, महन्त, मुल्ला-मौलवी तथा पादरियों ने अपने संकुचित स्वार्थों पर आघात लगने के भय से सत्यार्थप्रकाश जैसे ज्ञानालोक के प्रसारक चण्डांशु पर सदा ही निंदा और कुत्सारूपी पंक उछालने का प्रयास किया है। फलतः पौराणिक, जैनी, ईसाई तथा मुसलमान मतानुयायी अनेक अनुदार प्रकृति के लेखकों ने सत्यार्थप्रकाश के समग्र अथवा आंशिक खण्डन में समय-समय पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। आर्यसमाज के मनीषी विद्वानों ने इन मिथ्या आक्षेपपूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थों का तत्परतापूर्वक खण्डन भी किया है।

ग्रन्थसार

प्रथम समुल्लास

प्रथम समुल्लास का आरम्भ 'शन्नो मित्रः' इस उपनिषद्-प्रोक्त मंगलाचरण से होता है। लेखक ने 'ओम्' को ईश्वर का सर्वोत्तम नाम सिद्ध किया है तथा इस शब्द के तीनों अक्षरों—अ, उ और म् में निहित अन्य नामों की व्याख्या की है। यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के वाचक अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि जिन नामों का प्रयोग हुआ है, यद्यपि लोक में वे अन्य पदार्थों के वाचक हैं किन्तु उपासना के प्रकरण में इन सभी शब्दों को मानव के एकमात्र उपास्य ईश्वर का ही वाचक समझना चाहिए। किसी भी शब्द का अर्थ प्रकरणानुसार ही किया जाना चाहिए, इसलिए वेद-उपनिषदादि ग्रंथों में जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना के प्रकरण आए हैं, वहाँ-वहाँ मात्र परमेश्वर ही विभिन्न नामों से स्तुत्य, प्रार्थनीय एवं उपास्य माना गया है। परमात्मा के सर्वश्रेष्ठ नाम ओम् का उल्लेख वेद-संहिता, उपनिषद्-वाङ्मय तथा परवर्ती स्मृति-साहित्य में सर्वत्र हुआ है।

इसी प्रसंग में आचार्य ग्रन्थकार ने परमात्मा के सौ नामों

का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ये नाम तो संकेत रूप में ही उल्लिखित किये गए हैं, अन्यथा अनन्त गुण-विभूषित परमात्मदेव के असंख्य नाम हैं। सत्यार्थप्रकाश में ईश्वर के जिन सौ नामों की व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्या की गई वे निम्न हैं—1. प्राण, 2. अक्षर, 3. स्वराट्, 4. कालाग्नि, 5. दिव्य, 6. सुपर्ण, 7. गरुत्मान्, 8. मातरिश्वा, 9. विराट्, 10. अग्नि, 11. विश्व, 12. हिरण्यगर्भ, 13. वायु, 14. तैजस, 15. ईश्वर, 16. आदित्य, 17. प्राज्ञ, 18. मित्र, 19. वरुण, 20. अर्यमा, 21. इन्द्र, 22. बृहस्पति, 23. विष्णु, 24. उरुक्रम, 25. ब्रह्म, 26. सूर्य, 27. परमात्मा, 28. परमेश्वर, 29. सविता, 30. देव, 31. कुबेर, 32. पृथिवी, 33. जल, 34. आकाश, 35. अन्न, 36. अन्नाद, 37. अत्ता, 38. वसु, 39. रुद्र, 40. नारायण, 41. चन्द्र, 42. मंगल, 43. बुध, 44. शुक्र, 45. शनैश्चर, 46. राहु, 47. केतु, 48. यज्ञ, 49. बंधु, 50. पिता, 51. पितामह, 52. प्रपितामह, 53. होता, 54. माता, 55. आचार्य, 56. गुरु, 57. अज, 58. ब्रह्मा, 59. सत्य, 60. ज्ञान, 61. अनन्त, 62. अनादि, 63. आनन्द, 64. सत् 65. चित्, 66. सच्चिदानन्द-स्वरूप, 67. शुद्ध, 68. बुद्ध, 69. मुक्त, 70. निराकार, 71. निरञ्जन, 72. गणेश, (गणपति), 73. कूटस्थ, 74. देवी, 75. शक्ति, 76. श्री, 77. लक्ष्मी, 78. सरस्वती, 79. सर्वशक्तिमान्, 80. न्यायकारी, 81. दयालु, 82. अद्वैत, 83. निर्गुण, 84. सगुण, 85. अन्तर्यामी, 86. धर्मराज, 87. यम, 88. भगवान्, 89. मनु,, 90. पुरुष, 91. विश्वम्भर, 92. काल, 93. शेष, 94. आप्त, 95. शंकर, 96. महादेव, 97. प्रिय, 98. स्वयंभू, 99. कवि, 100. शिव।

इस प्रकार परमात्मा के 100 नामों की व्याख्या करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द आधुनिक ग्रन्थकारों द्वारा प्रयुक्त ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण की परिपाटी की समीक्षा करते हुए आर्ष ग्रन्थों के प्रारम्भ में 'ओम्' और 'अथ' जैसे शब्दों के प्रयोग का उल्लेख करते हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में श्री गणेशाय नमः, सीतारामाभ्यां नमः जैसे नमस्कारान्त वाक्य लिखना अनार्ष एवं नवीन परिपाटी है। इसी प्रकार वेदमंत्रों के प्रारम्भ में ओम् का उच्चारण तो शास्त्रविहित है किन्तु ओम् के आगे 'हरि' का प्रयोग नवीन कल्पना ही है। इस प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में यह प्रथम अध्याय लिखा गया है।

द्वितीय समुल्लास

बालकों की शिक्षा माता-पिता एवं गुरु का आवश्यक कर्त्तव्य है। बालक की शिक्षा-दीक्षा का प्रारम्भ तो गर्भाधान संस्कार से ही होता है। शास्त्र-विधि से गर्भाधान तथा उसके पश्चात् गर्भस्थ बालक के स्वास्थ्य तथा गर्भिणी की शारीरिक स्थिति का ध्यान रक्खा जाना आवश्यक है। जातकर्म संस्कार के समय उन सभी बातों का ध्यान रखना ज़रूरी है जो स्वास्थ्य-रक्षा एवं आयुर्वेद की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों। बालक जब बोलना सीखता है तो माता ही उसकी प्रथम गुरु होती है। वह उसे स्पष्ट उच्चारण की शिक्षा देती है। तत्पश्चात् बालक को आचार-व्यवहार, भोजन, शयन तथा अन्य नित्यप्रति के कर्त्तव्य-पालन की समुचित शिक्षा दी जानी चाहिए।

भारत में मध्यकालीन अंधविश्वासों एवं मूढ़ धारणाओं

के शिकार व्यक्ति बच्चों के समक्ष काल्पनिक भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी आदि की अनावश्यक चर्चा तथा कपोल-कल्पित बातों का वर्णन कर उनके बालसुलभ हृदय में अनावश्यक भय के संस्कार पैदा कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि बड़े होने पर भी उनके हृदय में भय की भावना प्रबल रूप से छाई रहती है। ऐसे लोग पुरुषार्थहीन, अंधविश्वासी एवं मूढ़ ही बने रहते हैं। वस्तुतः शास्त्रों में 'प्रेत' शब्द का प्रयोग मृतक शरीर के लिए हुआ है। मरने के पश्चात् जीव स्वकर्मफलभोग नियम के अनुसार अन्य योनि धारण करता है, अतः उसके भूत-प्रेत आदि की कल्पनाजन्य योनियों में प्रवेश करने का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः भारत में भूत-प्रेतों की काल्पनिक सत्ता को लेकर नाना पाखण्ड, अनाचार, दुराचार एवं ढोंग प्रचलित हैं। इनसे बहुसंख्य अनपढ़ एवं अशिक्षित व्यक्तियों को अनेक प्रकार की हानि उठानी पड़ती है। आश्चर्य तो यह है कि कभी-कभी पठित लोग भी इन अंधविश्वासों के शिकार हो जाते हैं।

भूत-प्रेतजन्य अंधविश्वास की ही भाँति फलित ज्योतिष का अंधविश्वास भी भारत की बहुसंख्यक जनता को पीड़ित कर रहा है। ज्योतिष के नाम पर जन्मपत्र, फलादेश, भविष्य-कथन, शकुन-विचार आदि के विविध पाखण्ड प्रचलित हैं। वस्तुतः ज्योतिष तो गणित की ही भाँति एक विज्ञान है जिसके द्वारा पृथिवी, सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्र, ग्रह, तारागण आदि का अध्ययन किया जाता है। परन्तु इसके वैज्ञानिक रूप की उपेक्षा कर भविष्य-कथन के नाम पर पाखण्ड का सर्जन ज्योतिर्विदाभास व्यक्तियों ने किया है।

तन्त्र, मन्त्र, गण्डा, तावीज़ को लेकर भी हमारे देश में जो पाखण्ड व्याप्त हैं वे साधारण जन-समाज को मूढ़ता के गर्त में ही ले जाते हैं। इसी प्रकार मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि की तांत्रिक विधियाँ मूढ़ जनों के घृणोत्पादक आचार हैं। शिष्टजन-समाज इन अंधविश्वासों से दूर ही रहता आया है।

बाल्यकाल से ही बच्चों को शरीर-रक्षण, वीर्य-रक्षा तथा ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जानी चाहिए। यदि माता-पिता प्रारम्भ से ही बालकों में उत्तम संस्कार प्रविष्ट कराने के लिए दृढ़-संकल्प रहें तो उनका शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास सर्वोत्तम रीति से हो सकेगा। माता ही बालक की प्रथम शिक्षक होती है। पिता और गुरु तो माता के पश्चात् ही बालकों को शिक्षा देने में समर्थ होते हैं। अत्यधिक लाड़-प्यार से भी बच्चों के बिगड़ने और पथभ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है। बच्चों को अनुशासन में रखने और नियमादि का पालन कराने में कड़ाई तथा दृढ़ता अपेक्षित होती है।

शिष्टाचार का ज्ञान बालकों को शिष्ट, सभ्य एवं सभाचतुर बनाता है। बड़ों का सम्मान करने तथा अभिवादन की शिक्षा देने में सदा तत्पर रहना चाहिए। अभिवादन का सर्वश्रेष्ठ प्रकार 'नमस्ते' है जिसे वेद तथा अन्य शास्त्र, स्मृति, काव्य, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों में सर्वत्र स्वीकार किया गया है। उसके स्थान पर किसी देवता या महापुरुष की जय का उच्चारण अथवा 'नमस्कार' जैसे क्रियापरक शब्दों का उच्चारण निरर्थक ही है। आर्य मर्यादा के संस्थापक ऋषियों ने अपने में पाए जानेवाले सुचरितों का ही अनुकरण

करने का उपदेश दिया था—"**यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।**" यदि गुरु एवं आचार्य में भी कोई दुश्चरित्रता की बात पाई जाय तो शिष्य के लिए वह त्याज्य ही है। बालकों को सुन्दर, तथ्यमूलक तथा नैतिक उदात्तशिक्षा-प्रदायक सुभाषितों एवं सूक्तियों का स्मरण कराना चाहिए। इसी प्रकार वे सामान्य शिष्टजनोचित आचार की शिक्षा बचपन से ही ग्रहण करें—ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए।

आर्ष ग्रन्थों में प्रमुख मनुस्मृति, विदुरनीति, रामायण एवं महाभारत के विभिन्न स्थल तथा कामन्दकीय नीति, चाणक्य-नीति तथा पञ्चतन्त्र एवं हितोपदेश आदि की नीति-कथाओं में सामान्य शिष्टाचार, व्यवहार-ज्ञान, सदाचार एवं नैतिक शिक्षण के अनेक उपदेश संगृहीत हैं। इन्हीं के आधार पर बालकों की शिक्षा की व्यवस्था होनी उचित है।

तृतीय समुल्लास

अध्ययन, अध्यापन एवं शास्त्र-शिक्षण-विषयक तृतीय अध्याय का आरम्भ विद्वान् ग्रन्थकार ने स्वरचित एक श्लोक से किया है जो इस प्रकार है—

विद्या विलास मनसो धृति शील शिक्षाः,
सत्यव्रता - रहित मानमलापहारा।
संसार - दुःखदलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहित कर्म परोपकाराः॥

वे पुरुष धन्य हैं जो विद्या-विलासी हैं, जो धैर्य, शील और शिक्षादि गुणों से युक्त हैं। सत्यव्रती एवं मानरूपी मल

से रहित हैं। परोपकार-तत्पर मनुष्य ही संसार में साधुवाद के पात्र हैं जो संसारी जनों के दुःखों को दूर करने में सतत संलग्न हैं।

बालकों एवं बालिकाओं के शिक्षण की पृथक् व्यवस्था होनी उचित है। सहशिक्षा चरित्र-विनाशक, ब्रह्मचर्य-बाधक तथा चरित्रहीनता को प्रोत्साहन देती है। विद्यालयों में सभी छात्र-वर्ग के प्रति समानता का व्यवहार उचित है। धनी और गरीब के भेदभाव का त्याग कर सभी अन्तेवासियों को गुरुकुल में समान सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ। बालक-बालिकाओं की अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था शासक का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है। प्रारम्भ से बालक-बालिकाओं को गुरुमन्त्र-गायत्री का अर्थ-सहित अभ्यास कराना चाहिए। गायत्री में परमपिता सविता से मनुष्य अपनी बुद्धियों को पवित्र करने तथा इन्हें शुभ कर्मों में प्रेरित करने की प्रार्थना करता है। संसार के धार्मिक साहित्य में गायत्री के समान उदात्त भावनायुक्त अन्य कोई मन्त्र नहीं है।

गायत्री की ही भाँति बालकों को स्नान, संध्या, (आचमन, प्राणायाम सहित) अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान कराना सिखाना चाहिए। प्राणायाम शरीर, मन एवं आत्मा को स्वस्थ, बलवान् एवं दृढ़ संकल्प-युक्त बनाए रखने में सहायक होता है। मनु के अनुसार जैसे अग्नि में तपाने से स्वर्णादि धातुओं का मल नष्ट होता है तथा वे शुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं। प्राणायाम के विभिन्न भेद योगशास्त्र में वर्णित हैं, जिनका अभ्यास योग्य गुरु की देखरेख में किया जाना चाहिए।

अग्निहोत्र के भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ प्रत्यक्ष हैं। इससे वायु-शुद्धि, वातावरण का परिशोधन एवं वेद का रक्षण होता है। अग्निहोत्र प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। इस प्रकार गुरुकुल-वास करता हुआ ब्रह्मचारी निश्चित आयु तक ब्रह्मचर्य-पालन करे। उत्तम ब्रह्मचर्य 48 वर्ष तक का होता है। मानव-शरीर की चार अवस्थाएँ सुश्रुत के आयुर्वेद ग्रन्थ में वर्णित हैं। मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में शास्त्रों के स्वाध्याय एवं प्रवचन का कार्य करते रहना चाहिए—

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

योगदर्शन में वर्णित सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह (यम) तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान (नियम) का सेवन आवश्यक है। इसी प्रकार मनूक्त धार्मिक मर्यादाओं का पालन भी द्विज बालकों के लिए अभीष्ट है। सत्यासत्य के ज्ञान एवं निर्णय के लिए न्यायवर्णित अष्टविध प्रमाणों का सहारा लेना चाहिए। ग्रन्थकार ने इसी प्रसंग में पठनीय ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत करते हुए आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन तथा पठन-पाठन पर ज़ोर दिया है। वर्जनीय एवं अपाठ्य ग्रन्थों की भी जानकारी दी गई है। वेद के पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, श्रवण, मनन, चिन्तन का अधिकार मनुष्यमात्र को है। मध्यकाल के अन्धकारपूर्ण दिनों में वेदों के पठन का अधिकार ब्राह्मण या अधिक से अधिक द्विजमात्र तक सीमित कर दिया गया था। स्वामी दयानन्द ने अपनी अपार करुणामयी दृष्टि से स्त्री, शूद्र सभी के लिए वेदाधिकार का निरूपण किया। '**यथेमां वाचं कल्याणि**' इस यजुर्मन्त्र के आधार पर दयानन्द ने

यह घोषणा की कि वेद परमात्मा की कल्याणी वाणी है जिसे पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने का मनुष्यमात्र को अधिकार है। पुराकाल में गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा, घोषा, अपाला, लोपामुद्रा आदि ब्रह्मवादिनी नारियों ने वेद-विद्या का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया था, अतः पौराणिकों के इस कथन में कुछ भी सार नहीं है कि स्त्री-जाति को वेद के अध्ययन से वंचित रखना चाहिए। वस्तुतः ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करने के पश्चात् ही कन्याएँ विवाह करती थीं।

चतुर्थ समुल्लास

सत्यार्थप्रकाश का चौथा समुल्लास गृहस्थ धर्म का विधान करता है। वेदाध्ययन के समाप्त होने पर स्नातक गृहस्थ में प्रवेश करता है। तुल्य रूप, गुण, शील और वय की कन्या से ही विवाह होना उचित है। मध्यकाल में बालविवाह की घातक प्रथा का प्रचलन हो गया था तथा अल्प-वयस कन्याओं के विवाह में शीघ्रबोध तथा पाराशरी आदि कल्पित ग्रन्थों के कल्पनामूलक श्लोक प्रमाणरूप में प्रस्तुत किये जाते थे। वस्तुतः विवाह की उत्तम आयु तो पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन के पश्चात् ही है। स्वामी दयानन्द ने वर्णव्यवस्था को जन्म पर आधारित न मानकर गुण, कर्म एवं स्वभाव पर निर्भर माना है। प्राचीन शास्त्रों ने भी यही मत स्वीकार किया है। पुराकालीन इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि गुण-कर्महीन जन्मना ब्राह्मण को शूद्र माना गया और ब्राह्मणोचित गुण-कर्मवाले शूद्र- कुलोत्पन्न व्यक्ति को भी द्विज कहा गया।

इसी प्रसंग में आचार्य मनु के आधार पर चारों वर्णों के गुण-कर्मों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। वेद का पठन, पाठन, यजन, याजन, दान देना और लेना ब्राह्मणों के कर्त्तव्य कर्म हैं। प्रजारक्षण, दान देना, यज्ञ करना और विषयों से पृथक् रहते हुए स्वकर्त्तव्य-पालन क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषि, पशुपालन, व्यापार-व्यवसाय के द्वारा वैश्य अपनी जीविका का निर्वाह करता है, परन्तु वेद का अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना आदि अन्य द्विजोचित कर्म उसके लिए भी समान रूप से ही करणीय हैं। शूद्र के लिए द्विजाति की सेवा करना ही एकमात्र कर्त्तव्य बताया गया है। कारण यह है कि वह प्रतिभा, मेधा, बुद्धि और प्रज्ञा में अन्यों से हीन होता है। परन्तु इन्हीं शूद्रों के कुल में यदि कोई प्रतिभाशाली, संस्कारवान् बालक जन्म लेकर द्विजोचित कर्म करे तो कुछ भी अनुचित नहीं है। उसके पठन-पाठन की व्यवस्था द्विज बालकों की ही भाँति होनी चाहिए। द्विजत्व की प्राप्ति जन्म से न होकर संस्कारों से होती है।

सन्तानोत्पत्ति तथा उसका पालन-पोषण भी गृहस्थ का पवित्र उत्तरदायित्व है। जातकर्म के पूर्व भी पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भ की रक्षा एवं वृद्धि के लिए किये जाते हैं। स्त्री-पुरुष ही कालान्तर में दम्पती कहलाते हैं। उनके पारस्परिक सद्व्यवहार एवं उत्तम आचरण-विषयक नियमों का विधान मनु ने किया है—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ 3।60॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥ 3।56॥

जिस गृह में पत्नी से पति और पति से पत्नी संतुष्ट रहती है, उस कुल का नित्य कल्याण होता है। जहाँ नारियों की पूजा एवं सत्कार होता है, वहाँ देवता क्रीड़ा करते हैं, परन्तु जहाँ स्त्रियों का अपमान होता है, उन घरों की सभी क्रियाएँ निष्फल जाती हैं।

गृहस्थियों के लिए ब्रह्मयज्ञ (संध्या एवं स्वाध्याय), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (माता, पिता आदि पितरों की सेवा), बलिवैश्वदेव यज्ञ (गृहस्थ पर आश्रित प्राणियों को अन्नदान), अतिथि यज्ञ—इन पाँच यज्ञों को नित्य करणीय बताया गया है। पंच महायज्ञों का नैत्यिक आचरण गृहस्थियों के सर्वांगीण विकास एवं उन्नति का कारण होता है।

गृहस्थधर्म-विवेचन के प्रसंग में आचार्य दयानन्द ने कुछ आपद्-धर्मों का भी विवेचन किया है। बाल विधवाओं के लिए पुनर्विवाह की व्यवस्था स्मार्त ग्रन्थों में मिलती है, परन्तु यह शूद्र वर्ण के लिए ही विधेयक कहा गया है। प्राचीन धर्मशास्त्रों ने सन्तान न होने पर नियोग-विधि से सन्तानोत्पादन का विधान किया था। महाभारत तथा अन्य इतिहास-ग्रन्थों में नियोग के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। नियोग की विधि कोई अनिवार्य कर्म नहीं है। आपत्-काल में ही इसका आचरण उचित बताया गया है। वस्तुतः गृहस्थाश्रम पर ही अन्य आश्रमियों का जीवन निर्भर है।

पंचम समुल्लास

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—इसी क्रम से

आश्रम-व्यवस्था का पालन करता हुआ मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त करता है। जब व्यक्ति यह अनुभव करे कि उसके केश श्वेत हो गए हैं, त्वचा ढीली हो गई है तथा पौत्र का जन्म हो गया है तो उसे वनस्थ हो जाना चाहिए। वानप्रस्थी के लिए उचित है कि वह संयम-नियम का पालन करते हुए स्वाध्याय, इन्द्रियदमन तथा नाना व्रतों का सेवन करता हुआ ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार तपश्चर्या, योगाभ्यास, सत्संग और ईश्वर-चिन्तन में अपना समय व्यतीत करता हुआ वानप्रस्थी समय आने पर संन्यास की दीक्षा ग्रहण करता है।

आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से 75वें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ आश्रम का निर्वाह कर मनुष्य अपने जीवन के चतुर्थ भाग में सर्व संग परित्याग कर परिव्राजक-वृत्ति को धारण करे। सामान्यतया गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात् ही संन्यास-दीक्षा लेने का विधान है, किन्तु तीव्र वैराग्य की स्थिति में ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास ग्रहण करने के उदाहरण मिलते हैं। वस्तुतः तीव्र वैराग्य एवं संसार के सुखों से विमुख होकर ईश्वर-चिन्तन तथा लोकमंगल के अनुष्ठान में पूर्णतया समर्पित करने की भावना ही संन्यास का कारण बनती है। सच्चे संन्यासी वे हैं जिन्होंने वेदान्त अर्थात् ईश्वर की सत्ता एवं स्वरूप के प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थ का भलीभाँति विचार एवं चिन्तन किया है, जो शुद्धान्तःकरण हैं तथा जिन्होंने संन्यासरूपी योग की साधना की है। ऐसे ही परमहंस संन्यासी ब्रह्मलोक का लाभ करते हैं और मोक्ष-सुख का अनुभव करते हैं।

संन्यास ग्रहण करते समय दीक्षा लेनेवाले व्यक्ति को

पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा से पूर्ण मुक्त होने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है। ऐसे लोग भिक्षा-वृत्ति को स्वीकार कर परोपकार-वृत्ति से समस्त संसार में निर्भीक भाव से विचरण करते हैं। संन्यासी होनेवाला व्यक्ति प्रजापति परमेश्वर की प्राप्ति के लिए शास्त्रोक्त इष्टि (यज्ञ) का सम्पादन करता है। तत्पश्चात् वह आहवनीयादि पञ्चाग्नियों को त्यागकर अग्निहोत्र के अनुष्ठान को छोड़ देता है। अब उसे यज्ञोपवीत, शिखा आदि चिह्नों की भी आवश्यकता नहीं रहती। प्राणिमात्र को अभय दान देकर संन्यासी घर से निकल पड़ता है। उसका एकमात्र जीवनोद्देश्य प्राणिहित-सम्पादन तथा आत्मशुद्धि एवं ईश्वर-चिन्तन ही है।

संन्यासियों के लिए आचरणीय धर्मों का विवरण मनु ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—संन्यासी को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों पर संयम रक्खे तथा विद्या एवं धर्म-प्रचारार्थ सर्वत्र विचरण करे। उसके लिए निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि समान होने चाहिएँ। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—इस दस लक्षणयुक्त धर्म का पालन करने में उसे सदा रत रहना चाहिए। ब्राह्मण ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है, क्योंकि वही सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय होता है। ब्राह्मण संसार का उपकार करने हेतु समर्पित है, अतः वही संन्यासी बनकर भी लोकहित में प्रवृत्त होता है।

सामान्यतया यह प्रवाद प्रचलित है कि संन्यासियों के लिए संसार में कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, अतः वे आलस्य और प्रमाद का जीवन व्यतीत करते हुए व्यर्थ के

देशाटन में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है। संन्यासी को तो लोकोपकार के लिए ही 'स्व' को समर्पण करना है, अतः उसे विद्या, धर्म तथा सत्य एवं न्याय के प्रचार में ही अपने को लगाना चाहिए। कर्म से पूर्ण विश्राम तो मृत्यु के पश्चात् ही मिलता है, अतः जब तक जीवन धारण करे, तब तक उसे अनलस भाव से कर्त्तव्याचरण करने में रत रहना चाहिए। भारतीय समाज और आर्य संस्कृति में संन्यासी के प्रति पूर्ण आदर के भाव प्रयुक्त किये गए हैं। नीतिकार ने तो यहाँ तक कहा है—

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्य कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥

भारत के आदर्श संन्यासी संसार में सदा आदर प्राप्त करते रहे हैं।

षष्ठ समुल्लास

छठे समुल्लास में राजनीति एवं आर्य शासनपद्धति का विवेचन हुआ है। वेद तथा मनुस्मृति आदि शास्त्रों में राजनीति, दण्डनीति तथा शासन-प्रणाली का आदर्श विवरण उपलब्ध होता है। प्रजापालन एवं लोकरक्षण राजा के प्रमुख कार्य हैं। राजा को चाहिए कि वह अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए राजार्य सभा, धर्मार्य सभा एवं विद्यार्य सभा की स्थापना करे। इन्हीं सभाओं के माध्यम से वह न्याय व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था तथा शिक्षा-व्यवस्था का संचालन करता है। वैदिक ग्रन्थों में प्रजातन्त्र की मूल भावना

विद्यमान है। राजा का निर्वाचन प्रजा के द्वारा ही होना अभीष्ट है और राजा के लिए उचित है कि वह प्रजा के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के परामर्श से ही शासन चलाए।

आदर्श राजा के लक्षण एवं कर्त्तव्यों के निर्धारण के पश्चात् ग्रन्थकार ने सभासदों के लक्षणों का वर्णन किया है। आदर्श सभासद् वह है जो वेद का ज्ञाता, सनातन दण्डनीति, न्याय-विद्या, अध्यात्म-शास्त्र से सुपरिचित होता है। राजा के लिए यह उचित है कि वह मृगया, द्यूतक्रीड़ा, मद्यपान आदि दुर्व्यसनों से निरन्तर बचता रहे। सभाचतुर सभासद् तथा विद्वान् एवं बुद्धिमान् मन्त्रिगण ही राजा को शासनसूत्र का संचालन करने में सहायता देते हैं। अमात्य, दूत, दुर्गपाल, पुरोहित आदि के पदों पर महत्त्वपूर्ण योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करने से राजा को अपने कर्त्तव्य-पालन में सहायता मिलती है। समय पड़ने पर राजा को शत्रु देश के शासक से युद्ध भी करना पड़ता है। ऐसे समय में उसे युद्धनीति का पालन करते हुए अपने सेनापतियों का उत्साहवर्धन कर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

अलब्ध की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि तथा वर्द्धित धन का सदुपयोग राजा का आवश्यक कर्त्तव्य है। कर-वसूली और राजस्व प्राप्त करने के लिए शास्त्रकारों ने जो नियम बनाए हैं, उन्हीं का अनुसरण कर्त्तव्य है। जिस प्रकार चतुर भ्रमर फूलों को कुछ भी हानि न पहुँचाते हुए भी उनसे रस ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार राजा भी अपने प्रजाजनों को बिना कष्ट दिये उनकी आय का छठा भाग कर-रूप में प्राप्त करता है तथा इस संचित राजकोश को प्रजा के हित में ही व्यय करता है। युद्ध का अवसर उपस्थित

होने पर राजा अपने कुशल सेनापतियों की सहायता से सूची व्यूह, वज्र व्यूह, सर्प व्यूह, मकर व्यूह आदि प्रकारों से सेना का कुशल संचालन कर विजय प्राप्त करता है। राजा को अपनी आदर्श दिनचर्या शास्त्र के अनुसार चलानी चाहिए। प्रातःकाल शौच, संध्योपासन, अग्निहोत्र से निवृत्त होकर उसे सभा में उपस्थित होना चाहिए। यहाँ वह मन्त्रिमण्डल से आवश्यक विचार-विमर्श करता है। इसी प्रकार समय-समय पर उसे सेना का निरीक्षण भी करना चाहिए। मध्याह्नोत्तर में भोजन और विश्राम के पश्चात् वह अपने गुप्तचरों के द्वारा वृत्तान्त की जानकारी प्राप्त करे।

आचार्य मनु ने न्याय-पद्धति का भी विस्तार से उल्लेख किया, जिसकी सहायता से राजा अन्याय, अत्याचार एवं अपराधवृत्ति का उन्मूलन करता है। अपराधियों को दण्ड देना और निरपराधियों को अभयदान ही राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। न्याय प्रदान करते समय राजा व्यवहार (मुकद्दमा) का संचालन करे, साक्षियों के द्वारा तथ्यों का निर्धारण करे तथा वास्तविकता तक पहुँचकर अपराधियों के लिए दण्ड का विधान करे—यह सभी विस्तारपूर्वक मनु के आधार पर इस अध्याय में वर्णित हुआ है। दण्ड का प्रयोजन अपराधी को भावी अपराधों से विरत करना तो है ही, साथ ही अन्य लोगों के समक्ष यह तथ्य प्रस्तुत करना है कि अपराधी को निश्चित रूप से दण्ड मिलता है। शास्त्रकार तो यह भी कहते हैं कि यदि शासकगण भी अपराध करें तो वे सामान्य जनता से भी अधिक दण्ड के पात्र हैं। इस प्रकार राजनीति का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत कर ग्रन्थकार इस विषय को विस्तार से जानने के लिए मनुस्मृति, विदुरनीति, शुक्रनीति

आदि ग्रन्थों को पढ़ने की संस्तुति करता है।

सप्तम समुल्लास

इस अध्याय में ग्रन्थकार ने ईश्वर और उसके ज्ञान वेद के विषय को प्रस्तुत किया है। वेद में एकेश्वरवाद है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** आदि मंत्रों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद में परमात्मा को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान् आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है। ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों से होती है। वह सर्वव्यापक और सर्वदेशी है। उसे दयालु और न्यायकारी मानने में कोई वदतोव्याघात जैसा दोष नहीं है। वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर आदि विशेषणों से युक्त है। उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने योग्य है। किसी व्यक्ति के गुणों का कथन एवं स्तवन स्तुति कहलाता है। सहायता की याचना प्रार्थना है और उसकी निकटता-प्राप्ति उपासना है। स्तुति, प्रार्थना और उपासना से मनुष्य की आत्मा का बल बढ़ता है। उसके गुण, कर्म एवं स्वभाव परमात्मा के तुल्य हो जाते हैं तथा उसमें निर्भयता का गुण आता है।

ईश्वर निराकार है। वह अवतार धारण नहीं करता। संसार में उसका मनुष्य-रूप में जन्म लेना वेदादि शास्त्रों में कहीं भी वर्णित नहीं है। वह अपने सर्व-शक्तिमत्ता गुण से ही अन्यायी, अत्याचारी, दुष्ट एवं दुराचारी मनुष्यों का विनाश करता है। जीव एवं ईश्वर में अन्तर है। दोनों चेतनधर्मी हैं, किन्तु ईश्वर सृष्टि का सर्जक, पालक और संहारक भी

है। उसी की शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होता है। जीव परिच्छिन्न है, जबकि परमात्मा विभु है। परमेश्वर सगुण एवं निर्गुण दोनों ही है, किन्तु सगुण का अर्थ साकार नहीं होता। वह न रागी है और न विरक्त। उसमें कोई इच्छा नहीं है, वह आप्तकाम और निरीह है।

वेद—परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में ऋग्, यजु, साम और अथर्व नाम से चारों वेदों को मनुष्य-जाति के हितार्थ अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामधारी ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकट किया। यह कथन भ्रान्तिमूलक है कि वेद की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई। ब्रह्मा वेदों के प्रचारक हैं। वेद की भाषा किसी देश या जाति की विशिष्ट भाषा नहीं है। यदि किसी देशविशेष की भाषा में वेद का प्रकाश किया जाता तो उसके प्रकाशक ईश्वर को पक्षपाती कहा जा सकता था। वेद में शाश्वत, सर्वजनोपयोगी, सार्वदेशिक ज्ञान का उल्लेख है, अतः वह मनुष्यमात्र के लिए ग्राह्य है।

चतुर्वेद-संहिताओं को ही वेद नाम से पुकारना अभीष्ट है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थ वेद कहलाने के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि इनमें ऋषि, मुनि, राजाओं का इतिहास वर्णित है तथा वेदमंत्रों की प्रतीक धरकर व्याख्या की गई है। अतः इन्हें वेदों का व्याख्यान कहना अधिक संगत होगा। कालान्तर में वेदमंत्रों का पाठ, विचार और अध्ययन विभिन्न गुरुकुलों और ऋषि-कुलों में होने लगा। तब अध्ययन की सुविधा के लिए इन ऋषियों ने मंत्रों में स्वमतानुकूल अनेक परिवर्तन किये। यही पाठान्तर और पाठ-परिवर्तन विभिन्न शाखाओं के नाम से प्रचलित हुए। इन शाखाओं की संख्या 1127 बताई गई है, किन्तु सम्प्रति कुछ

ही उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की शाकल, यजुर्वेद की माध्यन्दिन, सामवेद की कौथुम तथा अथर्ववेद की शौनक संहिता में ही वेद-संहिता का मूल पाठ सुरक्षित है। अन्य संहिताओं में ब्राह्मण-पाठ का मिश्रण हो गया है।

वेद का अध्ययन करने के लिए निरुक्त-प्रतिपादित यौगिक प्रणाली का आश्रय ही अभीष्ट है। प्रत्येक मन्त्र का ऋषि, देवता, छन्द और स्वर उसके ज्ञान में सहायक होता है। ऋषि मन्त्र का द्रष्टा तथा उसके ज्ञान का प्रचारक है। देवता मंत्र का अर्थ संकेतित करता है। छन्द और स्वर की उपयोगिता स्वतःसिद्ध है। आर्यसमाज के लिए वेद ही परम प्रमाण है। मनु ने ठीक ही कहा है—

पितृ देव मनुष्याणां वेदश्चक्षु सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥

अष्टम समुल्लास

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और पालन तथा प्रलय का विषय दार्शनिक रहस्यों से पूर्ण है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में परमात्मा को निमित्त कारण मानना उचित है। वस्तुतः ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि तत्त्व हैं। प्रकृति परमेश्वर से उत्पन्न न होकर जड़ परमाणुओं का पुञ्ज है। जीव चेतन, अणु तथा संसार के भोगों को भोगने में समर्थ और नाना कर्मों को करने में भी स्वतंत्र है। ईश्वर सत्, चित्त, आनन्दस्वरूप है तथा जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने में समर्थ जगन्नियन्ता है। ऋग्वेद के **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इस मंत्र में तथा **'अजामेकां**

लोहित शुक्ल कृष्णां', इस उपनिषद्-श्लोक में इन तीनों अनादि तत्त्वों का सम्यक् उल्लेख हुआ है।

वेद के अध्यात्मपरक मंत्रों तथा उपनिषदों के ब्रह्मविद्या-विधायक प्रसंगों को ठीक प्रकार से न समझकर कालान्तर में शंकराचार्य ने अद्वैत मत का प्रचार किया, जिसमें ईश्वर की एकमात्र चिन्मय को ही स्वीकार किया गया तथा जीव एवं प्रकृति को उससे अभिन्न बताया। यह मत स्पष्ट ही दोषपूर्ण है क्योंकि उपनिषदों में जहाँ **'सदेव सोम इदमग्र आसीत्', 'एकोऽहम् बहु स्याम्', 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** आदि वाक्य कहे गए हैं, वहाँ उनका तात्पर्य ईश्वर की एकमेव सत्ता का प्रतिपादन करना न होकर परमेश्वर की सर्वोपरि सत्ता को प्रतिष्ठित करना है। इस प्रकार संसार का उपादान कारण प्रकृति, ब्रह्म उसका निमित्त कारण तथा जीवादि साधारण कारण हैं। अभिन्न निमित्तोपादान कारण के रूप में ब्रह्म को मानना शास्त्र-विरुद्ध एवं युक्ति तथा तर्क के प्रतिकूल है।

संसार की रचना परमात्मा ने मनुष्य के हितार्थ की है। संसार में मनुष्य का पुरुषार्थ, पराक्रम तथा उसकी शक्ति का प्रकाशन होता है। परमात्मा के न्याय, दया, धारण, पालन आदि के गुण और सामर्थ्य का प्रकाशन भी संसार की रचना में ही प्रकट होता है। कारण के बिना कार्य की कल्पना समीचीन नहीं होती। इसलिए सृष्टि-रचना में उसके उपादान कारण प्रकृति तथा निमित्त कारण परमात्मा की आवश्यकता अपरिहार्य है। तथापि हम देखते हैं कि संसार में नास्तिक वर्ग के लोग अनेक युक्तियाँ देकर ईश्वर की सत्ता का निषेध

करते हैं। ग्रन्थकार ने इस प्रकार की सभी युक्तियों का सतर्क खण्डन किया है।

सृष्टि-रचना के गूढ़ किन्तु महत्त्वपूर्ण विषय को विभिन्न दर्शनों ने विभिन्न प्रकार से वर्णित किया है। इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि ऐसी कोई बात नहीं है। प्रत्येक दर्शन सृष्टि-रचना के कारणभूत किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व का विशेष रूप से विवेचन करता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अन्य कारणों का वहाँ निषेध किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म को सृष्टि का कारण बताकर इन सभी तत्त्वों की सृष्टि-रचना में उपयोगिता को स्पष्ट किया गया है।

सृष्टि-रचना, पुनः मनुष्य की उत्पत्ति, मानव-सभ्यता का प्रसार, आर्य-दस्यु युद्ध, आर्यावर्त की सीमा, भारत देश का प्राचीन नाम, आर्यों का मूल स्थान आदि विभिन्न विषयों का विवेचन करते हुए लेखक ने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि आर्य लोग इसी देश के निवासी थे, वे कहीं बाहर से नहीं आए। किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह सिद्ध नहीं होता कि आर्य ईरान या किसी अन्य देश से आए। यह अवश्य है कि शताब्दियों तक भारत के लोगों ने स्वराज्य-सुख का अनुभव किया। परन्तु अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों की तो बात ही क्या, इस आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, चक्रवर्ती, स्वाधीन, निर्भय राज्य नहीं है। इस प्रकार स्वराज्य को सुराज्य से महत्त्वपूर्ण घोषित करते हुए लेखक ने

लिखा—'कोई कितना ही करे किन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तरों के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं होता।' अध्याय के अवशिष्ट भाग में भूगोल और खगोल के अनेक विषय वर्णित हुए हैं।

नवम समुल्लास

विद्या-अविद्या और बंध-मोक्ष की विवेचना करनेवाला नवम समुल्लास मुख्यतः दार्शनिक रहस्यों से परिपूर्ण है। अविद्या का निरूपण करते हुए योगदर्शन में कहा गया है कि अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म को नित्य, शुचि, सुख और आत्म-तत्त्व मानना ही अविद्या है। इस अविद्या से छूटकर ही मनुष्य मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी बनता है। नवीन वेदान्तियों ने मुक्ति की एक भिन्न ही कल्पना की है। उनके विचारानुसार तो ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर ही नहीं है, अतः जीव के लिए बंधन, मोक्ष आदि सभी विचार कल्पनामात्र ही हैं। वस्तुतः अल्पज्ञ, अल्प शक्तिवाला, परिच्छिन्न जीव जब योगसाधन, तपस्या, सत्संग और ईश्वर-प्रणिधान आदि साधनों से अपने-आपको सम्पन्न बनाता है तो वह मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

शास्त्रों में मोक्ष के विभिन्न साधन वर्णित हैं। विवेक, वैराग्य, मुमुक्षत्व, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार आदि साधनों से मोक्ष-लाभ होता है। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना

और उपासना भी मोक्ष के प्रसिद्ध साधन हैं। उपासना से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पञ्च क्लेशों का विनाश होता है और साधक को योगाभ्यास के मार्ग से परमानन्द की प्राप्ति होती है। वेद में मोक्ष का जो स्वरूप और साधन वर्णित किये गए हैं वे अन्य सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित मोक्ष-सम्बन्धी विचारों की तुलना में सर्वाधिक तर्कपूर्ण, युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक हैं। मोक्ष के विचार से ही जुड़ा हुआ पुनर्जन्म-विषयक सिद्धान्त भी है। पुनर्जन्म की सत्यता आज सब प्रकार से सिद्ध हो चुकी है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, किन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। यदि पूर्वजन्म-कृत पुण्यों या पापों का फल इस जन्म में भोगना न माना जाय तो परमात्मा को पक्षपाती मानना होगा क्योंकि बिना पूर्व-कृत कर्मों के इस जन्म में नाना उत्कृष्ट-निकृष्ट फलों का भोग सम्भव नहीं है। परन्तु पुनर्जन्म का सिद्धान्त किसी भी प्रकार से पुरुषार्थ-हीनता का पाठ नहीं पढ़ाता। ईश्वर का न्याय और उसकी दया ही पुनर्जन्म का कारण है।

जीव विभिन्न योनियों में अपने पाप-पुण्य के अनुसार जन्म लेता रहता है। जब उसके बंधन-कारक कर्म समाप्त हो जाते हैं तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् का वचन प्रमाण है—

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे॥

जब इस जीव के हृदय की अविद्या, अज्ञानरूपी गाँठ कट जाती है, सब संशय छिन्न होते, दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, तभी उस परमात्मा जोकि अपने आत्मा के

भीतर और बाहर व्याप्त है, उसमें निवास करता है। मुक्ति के सम्बन्ध में एक सर्वथा तर्कपूर्ण सिद्धान्त स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि जब मुक्ति के लिए मनुष्य का पुरुषार्थ और उसके साधन भी सीमित और परिमित हैं तो उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है? इस प्रकार यह स्वीकार करना होगा कि मुक्त जीव एक निश्चित अवधि-पर्यन्त मोक्ष-सुख को भोगता है। तत्पश्चात् वह पुनः संसार में जन्म लेता है।

शास्त्रों में सत्त्व, रज और तम—त्रिगुण-रूपा, कर्म-फल के अनुरूप योनियों के प्राप्त होने की चर्चा है। सत्त्वगुण-सम्पन्न मनुष्य तो देव अर्थात् विद्वानों की योनि प्राप्त करते हैं। जो रजोगुणी हैं वे मनुष्य की मध्यम गति पाते हैं, किन्तु तमोगुण प्रकृतिवाले नीच गति पाते हैं। चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। यह योग-साधना ही मनुष्यों को मोक्षगामी बनाती है। जब योग के द्वारा चित्त का निरोध होता है, तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीव की स्थिति होती है। सांख्यदर्शन के अनुसार त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ कहा गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों से छूटकर मनुष्य ब्रह्मानन्दरूपी मोक्ष का अनुभव करता है।

दशम समुल्लास

आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य का विषय दशम समुल्लास में विवेचित हुआ। भगवान् मनु के अनुसार वेद ही समस्त धर्मों का मूल है। उसी को स्मृतियों में वर्णित

किया गया है। साधु पुरुषों का आचरण भी धर्म-निर्णय में प्रमाण माना जाता है। जो व्यक्ति वेद तथा स्मृति-प्रतिपादित धर्म का पालन एवं अनुसरण करता है, वह इस लोक में कीर्ति प्राप्त कर परलोक में अत्युत्तम सुख अर्थात् मोक्ष पाता है। परन्तु जो कुतर्क का सहारा लेकर वेद की अवमानना और अवहेलना करता है, वह साधु-समाज द्वारा बहिष्कार के योग्य है, क्योंकि पुरातन आचार्यों ने वेद-निंदक को ही नास्तिक बताया है। वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा के अनुकूल कर्म ही धर्म का साक्षात् लक्षण बताया गया है। अर्थ और काम के प्रलोभनों से उठकर ही धर्म का ज्ञान हो सकता है। धर्म-जिज्ञासुओं के लिए श्रुति ही परम प्रमाण है।

प्राचीन काल में आर्यावर्त-वासियों का संसार के अन्य देशवासियों के साथ सम्पर्क रहा था। यही कारण था कि विदेशों में भी आर्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचार तथा प्रसार के लिए भारतीय ऋषिगण सदा तत्पर रहते थे। रामायण, महाभारत आदि इतिहास-ग्रन्थों से विदित होता है कि पुरातन आर्य राजाओं के विवाह-सम्बन्ध अन्य देशवासी राजाओं की कन्याओं से होते थे। मध्यकाल में जब रूढ़ि और अन्ध धारणाओं ने देशवासियों को आक्रान्त कर दिया, तब समुद्र-यात्रा को पाप माना जाने लगा और कलियुग में वर्ज्य समझे जानेवाले कर्मों में इसकी गणना होने लगी। इसी प्रकार भोजन को लेकर भी नाना प्रकार के बखेड़े प्रचलित हो गए हैं। ब्राह्मण लोग अन्य जाति के लोगों के हाथ का बनाया भोजन नहीं करते, जबकि प्राचीनकाल में भोजन पकाने का काम ही शूद्रों के सुपुर्द

था। भोजन को लेकर व्यर्थ की छुआछूत, सखरी-निखरी आदि मानने से समाज में विघटन की प्रवृत्ति पैदा होती है। जब तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब तक उन्नति और सुधार होना कठिन है।

आर्य जाति में विरोध, विद्वेष और फूट के बीज आज से 5 सहस्र वर्ष पूर्व महाभारत के युद्ध के पश्चात् बोये गए। उसी का विषम परिणाम आज तक भारतवासी भोगते आए हैं। ग्रन्थकार अत्यन्त वेदनापूर्वक आर्यों की इस फूट पर स्वमत व्यक्त करते हुए लिखते हैं—"जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी पंच बन बैठता है। आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, परन्तु अब तक वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा या आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख-सागर में डुबा मारेगा!"

इसी समुल्लास में गोरक्षा की उपयोगिता को आर्थिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः एक गाय की रक्षा ही सहस्रों मनुष्यों के प्राणधारण का कारण बनती है, जबकि एक गौ के मांस से थोड़े-से जिह्वालोलुप व्यक्तियों की ही तृप्ति होती है। गोरक्षा का महत्त्व भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए तो निर्विवाद है।

इस प्रकार दस समुल्लासों के साथ-साथ सत्यार्थप्रकाश का पूर्वार्द्ध समाप्त होता है। यह ग्रन्थ का विधेयात्मक अंश है जिसमें मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास की एक व्यापक योजना प्रस्तुत की गई है। यदि हम सत्यार्थप्रकाश के पूर्वार्द्ध में वर्णित सिद्धान्तों तथा मन्तव्यों के अनुसार अपना जीवनयापन करें तो हमारी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक

और सामाजिक उन्नति सुनिश्चित है। ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग में लेखक ने आर्यावर्तीय तथा अन्य देशों में जन्मे विभिन्न मत-मतान्तरों के अन्धविश्वासपूर्ण तथा युक्ति-तर्कहीन, अवैज्ञानिक मतों का खण्डन किया है। उत्तरार्द्ध को पढ़ने से पूर्व हमें लेखक द्वारा व्यक्त इस अवधारणा को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए—"इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि या विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय कराने का है। इस प्रकार सब मनुष्यों को न्याय-दृष्टि से वर्तना अति उचित है।"

एकादश समुल्लास

आर्यावर्तीय मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन के विषय को आरम्भ करने से पूर्व लेखक ने स्वदेश का गौरव-गान किया। उसने यह स्पष्ट किया कि आर्यावर्त के तुल्य समस्त भूमण्डल पर अन्य कोई देश नहीं है। धन-धान्य और वैभवपूर्ण भारतभूमि को अन्य देशवासी स्वर्णभूमि के नाम से जानते थे। भारत ही सदा से धरती की समग्र मानव-जाति का आदि-गुरु रहा है। यहाँ के अग्रजन्मा ब्राह्मणों के चरणों में बैठकर ही पृथिवी के समस्त मनुष्यों ने धर्म, अध्यात्म और चारित्र्य की शिक्षा ग्रहण की है। सृष्टि के आरम्भकाल से लेकर पाँच हजार वर्ष पूर्व तक समस्त पृथिवी पर आर्यों का अखण्ड, चक्रवर्ती, सार्वभौम साम्राज्य था। पुनः महाभारत के युद्ध के पश्चात् आर्यजाति का पतन आरम्भ हुआ। जब आर्यों में आलस्य, प्रमाद, पुरुषार्थहीनता,

ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति, विद्यानाश आदि दुर्गुणों की वृद्धि हुई तो देश की अधोगति सुनिश्चित हो गई।

जब वेदज्ञान का लोप हो गया तो नाना मत-मतान्तर प्रचलित हुए। इनमें वाममार्ग सर्वाधिक भयंकर था। वाम-मार्गी मद्य, मांस, मैथुन, मत्स्य और मुद्रा—इन पाँच मकारों के सेवन को ही मोक्ष का हेतु मानते हैं। इनकी शिक्षाएँ सदाचार और मर्यादा की विनाशक तथा मनुष्य को चारित्रिक पतन के गह्वर में गिरानेवाली हैं। वाममार्गियों द्वारा प्रचलित अनाचार और दुराचार की वृद्धि होने पर बौद्ध एवं जैन मतों का प्रचार हुआ। इन अवैदिक मतों के प्रचलित होने पर वेद, यज्ञ तथा ईश्वर की मान्यताओं को भारी धक्का लगा। आर्हत (जैन) और सौगत (बौद्ध) मत वेद-विरोधी नास्तिक थे, जिन्होंने आर्यों में प्रचलित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का विरोध किया तथा झूठे त्याग और वैराग्य की शिक्षा देकर लोगों में अकर्मण्यता का प्रचार किया। शंकराचार्य ने अद्वैत मत का प्रचार कर वेद-विरुद्ध बौद्ध-जैन मत का निरास किया, परन्तु मायावाद और जगत्-मिथ्यावाद का प्रचार करने के कारण शंकराचार्य की शिक्षाएँ भी देशवासियों में पुरुषार्थ और कर्मण्यता का प्रचार नहीं कर सकीं।

मध्यकालीन भारत में शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य एवं सौर सम्प्रदायों का प्रभुत्व रहा जो शिव, शक्ति, विष्णु, गणेश और सूर्य के उपासक थे। शैवों ने रुद्राक्ष, त्रिपुण्ड्र धारण, भस्म धारण और मादक द्रव्य सेवन को ही शिव का प्रसाद प्राप्त करने का उपाय माना। इस प्रकार थोथे कर्मकाण्ड की वृद्धि हुई और वैदिक उपासना का निर्मल स्वरूप सर्वथा लुप्त हो गया। शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने प्रामाणिकता

के लिए पुराण नामधारी ग्रन्थों की रचना की और उन्हें व्यास-रचित बताया। इन ग्रन्थों में नाना युक्ति, तर्क एवं विज्ञानविरुद्ध बातों का समावेश किया गया। वैष्णव मत का प्रचार रामानुज, रामानन्द, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि आचार्यों ने किया। इन्होंने शंकराचार्य के अद्वैत मत के विरोध में विष्णुभक्ति-मूलक विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत मत का प्रचार किया।

पुराणों के प्रचार से अवतारवाद, मूर्तिपूजा, मृतक श्राद्ध, व्रतानुष्ठान, तीर्थयात्रा आदि अनेक पाखण्ड-मूलक आचारों का प्रचार हुआ। समस्त देश मठों, मन्दिरों और देव-स्थानों से भर गया जहाँ उपासकों का द्रव्यहरण करने के लिए नाना उपाय किये जाने लगे। बदरी, केदार, सोमनाथ, रामेश्वर, द्वारिका, जगन्नाथपुरी आदि शैव-वैष्णव तीर्थ पाखण्ड-स्थलों के रूप में परिवर्तित हो गए। तीर्थयात्रा और पवित्र नदी-सरोवरों में स्नान करने मात्र को ही मुक्ति का हेतु माना जाने लगा। शत योजन दूर से ही पवित्र गंगा का नाम-स्मरण सर्व पापों का विनाशक तथा विष्णुलोक-प्रदायक माना जाने लगा। हरिनाम-स्मरण ही कलिजन्य पाप-ताप का निवारक बन गया। इस प्रकार मुक्ति-प्राप्ति के सरल उपाय आविष्कृत किये जाने लगे और तप, त्याग, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान जैसे शास्त्रवर्णित उपायों की अवहेलना होने लगी।

देशवासियों में पुरुषार्थहीनता, अकर्मण्यता तथा अन्धविश्वासों के प्रचलन में फलित ज्योतिष तथा तज्जन्य मिथ्या धारणाओं का भी योगदान रहा है। इसी प्रकार मृत्यु के अनन्तर नाना काल्पनिक स्वर्ग नरकादि लोकों में जीवों का जाना, दान का मिथ्या माहात्म्य आदि के विश्वास भी

अन्धविश्वासों के प्रचलन में सहायक बने। यह समझा जाने लगा कि सम्प्रदायविशेष में दीक्षा लेकर उसके कर्मकाण्ड का आचरण करना, तिलक, माला, कण्ठी आदि धारण करना, ईश्वर के नामविशेष (वासुदेव, शिव आदि) बार-बार उच्चारण करना, जल-स्थलविशेष पर तीर्थयात्रा के व्याज से जाना, एकादशी, पूर्णिमा आदि तिथिविशेष पर उपवास, पूजा आदि करना ही मोक्षदायक है।

जब हिन्दू-समाज में इस प्रकार के साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो रहा था, उस समय कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, रैदास आदि निर्गुणोपासक सन्तों ने निराकारवाद का प्रचार किया। ये सन्त वेदशास्त्रों से अनभिज्ञ थे, अतः शास्त्रविरोध उनके लिए स्वाभाविक था। यद्यपि सन्त-मत में अवतार, मूर्ति, तीर्थ, मिथ्या नाम-स्मरण, माला, छाप, तिलक आदि साम्प्रदायिक धारणाओं का खण्डन किया गया है, किन्तु कालान्तर में इस विचारधारा में निहित क्रान्तदर्शिता, प्रगतिशीलता तथा उदारता समाप्त हो गई। सन्तगण भी सम्प्रदाय-प्रवर्तक बन गए और मूर्तियों की ही भाँति उनकी गद्दी, कमण्डलु, खड़ाऊँ आदि की पूजा प्रचलित हो गई। पंजाब में गुरु नानक ने सिक्ख-मत की स्थापना की। इसकी प्रारम्भिक शिक्षाएँ अत्यन्त उदार तथा निर्गुणवादी थीं, किन्तु थोड़े समय पश्चात् सिक्ख मत भी साम्प्रदायिकता का शिकार हो गया। राजस्थान में रामस्नेही, निरञ्जनी आदि मत चले जिन्होंने निराकार राम की उपासना का प्रचार किया, परन्तु ये सभी मत जनता में सदाचार, सत्संगति तथा उच्च आध्यात्मिक भावों को भरने में असमर्थ रहे।

भारत में पश्चिमी देशों के सम्पर्क के साथ ही लोगों

के धार्मिक चिंतन में भी परिवर्तन हुआ। ईसाई प्रचारकों के क्रियाकलापों ने लोगों को चौंका दिया। उधर पश्चिमी देशों के नूतन आविष्कारों और नव-विज्ञानवाद तथा बुद्धिवाद ने धर्म को एक नया आयाम दिया। बंगाल में राजा राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना की तथा उसी के अनुकरण पर महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज स्थापित हुआ। इन नवीन सुधार-आन्दोलनों में यद्यपि अनेक बातें अच्छी थीं, किन्तु वे बहुत-कुछ ईसाइयों के अनुकरण की प्रवृत्ति को अपना रहे थे। ब्रह्मसमाज ने निर्गुण-निराकार ईश्वर की पूजा-उपासना का प्रचार किया; मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि के पाखण्डों से लोगों को मुक्त किया; किन्तु वेद को प्रमाण न मानने, पुनर्जन्म को स्वीकार न करने, यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्ड का तिरस्कार करने के कारण ब्रह्मसमाज भारतीय आर्यों के लिए बहुत प्रेरणादायी न रहा। लेखक का यह कथन उचित ही है कि ''ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत-विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना, मनुष्यों को स्थिर और वृद्धिकारक कर्म क्योंकर हो सकता है?''

इस प्रकार भारतवर्षीय मत-मतान्तरों की समीक्षा एवं आलोचना करने के पश्चात् लेखक ने धर्मजिज्ञासु तथा मतवादियों के बीच संवाद लिखकर यह सिद्ध किया है कि सच्चा धर्म एक ही है, जिसके मौलिक तत्त्वों तथा उपादानों को सभी मतवाले स्वीकार करते हैं। अन्तर तो मतवादियों के स्थूल कर्मकाण्ड तथा उनकी संकीर्ण मान्यताओं में हैं जिनके कारण उन्होंने अपने-आपको पृथक्

दायरों में बाँध रक्खा है। ग्रन्थकार की दृढ़ धारणा है कि भारतवर्ष के संन्यासीवर्ग के लोग यदि धर्म के वास्तविक स्वरूप के प्रचार में संलग्न हो जाएँ तो देश भ्रमजाल से मुक्त हो सकता है। परन्तु गिरि, पुरी, भारती, सरस्वती आदि के पद धारण करनेवाले दशनामी संन्यासी भी अद्वैतवाद की विचारधारा का अनुसरण करते हुए जगत् को मिथ्या ही समझते हैं तथा अपना समय व्यर्थ के देशाटन, तीर्थयात्रा आदि में नष्ट करते हैं। इस समुल्लास में आर्यावर्त के क्षत्रिय राजाओं की एक वंशावली भी दी गई है जिसका काल युधिष्ठिर से आरम्भ होता है तथा पृथ्वीराज चौहान पर आकर समाप्त होता है।

द्वादश समुल्लास

भारतवर्ष में ही कुछ ऐसे मत भी प्रचलित हुए जो वेदों के प्रमाण की अवज्ञा करते थे, यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्ड का उपहास करते थे, जिनकी वैदिक वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था में थोड़ी भी आस्था नहीं थी। इन्हें नास्तिक या लोकायत मत कहा जाता था। इनमें चार्वाक-मत प्रमुख है। इसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, किन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह' में जो चार्वाक मत का दिग्दर्शन कराया गया है, उससे ही चार्वाकों की मान्यताओं की जानकारी प्राप्त होती है। चार्वाक मत में ईश्वर, आत्मा, परलोक, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि की धारणाओं को एकान्त रूप से अस्वीकार किया गया है।

बौद्ध मत का प्रचार गौतम बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं से हुआ। प्रारम्भ में बौद्ध विचारधारा मुख्यतः नीति, सदाचार

और मानवतावाद की व्यापक शिक्षा पर आधारित थी, किंतु कालान्तर में उसे विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के वात्याचक्र में जकड़ दिया गया। तब माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक भेद से उसके चार सम्प्रदाय चल पड़े। शंकराचार्य ने बौद्धमत को वेदविरुद्ध तथा वैदिक धर्म की प्रचलित मान्यताओं के विपरीत जानकर उसका खण्डन किया। बौद्धों की ही भाँति जैन मत भी आचार-विचार की मान्यताओं तथा देहदण्डन की प्रणालियों को महत्त्व देता है। पुनर्जन्म और परलोक को स्वीकार करते हुए भी जैन मत में सृष्टिकर्ता ईश्वर को अस्वीकार किया गया है। वहाँ कैवल्यज्ञान-प्राप्त साधु और तपस्वी ही ईश्वर माने जाते हैं जिन्हें तीर्थंकर कहकर सम्बोधित किया जाता है। मूर्तिपूजा तथा तीर्थंकरों के षोडशोपचार-पूजन की प्रथा जैनियों से प्रारम्भ हुई जिसे स्वल्प समय पश्चात् पौराणिकों ने भी अपना लिया और जैनियों के ही अनुकरण पर विष्णु के राम, कृष्ण आदि 24 अवतारों की कल्पना कर उनकी आडम्बरपूर्ण पूजा का प्रचार किया। इस प्रकार नास्तिक पाखण्ड-मतों का परिचय दिया गया है। जैन मत की अधिकांश धारणाएँ तर्क एवं विज्ञान के विरुद्ध हैं।

त्रयोदश समुल्लास

ईसाइयों का मत बहुत-कुछ प्राचीन यहूदी धर्म की मान्यताओं और धारणाओं पर आधारित है। बाइबिल के पुराने अहदनामे में यहूदी मत तथा नये अहदनामे में ईसाई

मत की शिक्षाओं को संग्रहीत किया गया है। यहूदी और ईसाई मत पश्चिमी एशिया में उस समय पैदा हुए, जब वहाँ के निवासी नाना अविद्या, अज्ञान एवं पाखण्डों में ग्रस्त थे। मूसा ने यहूदी धर्म का प्रचार किया तथा अपने देशवासियों में नैतिकता तथा आचार की कुछ स्थूल धारणाओं का प्रचार किया। कालान्तर में पैलस्टाइन नगर में यूसुफ और मरियम के जीसस नामक पुत्र जन्मा जो संसार में क्राइस्ट के नाम से विख्यात हुआ। जीसस के शिष्यों ने इंजीलों की रचना की जो समयान्तर में मैथ्यू, जॉन, ल्यूक के नामों से प्रसिद्ध हुईं। बाइबिल में नीति, सदाचार और मानव-प्रेम की सामान्य शिक्षाएँ वर्णित हैं, परन्तु दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वथा हीन है।

वस्तुतः ईसा मसीह के युग में पश्चिमी एशिया में नाना प्रकार के अनाचार एवं दुराचार धर्म के नाम पर प्रचलित थे। मसीह एक सीधे-सादे, अपठित किन्तु विचारशील पुरुष थे। उन्होंने अपने सरल किन्तु प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व से अनेक लोगों को प्रभावित किया तथा उनमें नैतिकता एवं सदाचार का उपदेश किया। ईसाई मत की नैतिक मान्यताएँ बौद्ध मत के तुल्य ही हैं, जिनका मूल स्वरूप वैदिक धर्म की धारणाओं में देखा जा सकता है। इस प्रकार यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाजंगली अविद्वानों के देश में ईसा का भी होना ठीक था, किंतु बाद में जब ईसाइयों ने मसीह को ही ईश्वर का एकमेव पुत्र मानकर उसे परमात्मा का ही स्थानापन्न मान लिया, तब तो यही समझा जाने लगा कि ईश्वर से भी ईश्वर के पुत्र का महत्त्व अधिक है और ईसा पर विश्वास लाने से ही मुक्ति हो सकती है। यह भी

एक प्रकार की मनुष्य-पूजा ही है, जो सच्ची आस्तिकता को नष्ट करती है।

चतुर्दश समुल्लास

सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम अध्याय में अरब देशोत्पन्न मुहम्मद साहब द्वारा प्रवर्तित इस्लाम की समीक्षा लिखी गई है। आज से लगभग 1400 वर्ष पूर्व मक्का नगर में मुहम्मद का जन्म हुआ। ये पढ़े-लिखे नहीं थे, किंतु आस्तिकता का भाव इनमें सुदृढ़ था। इनकी शिक्षाओं का संग्रह कुरान के नाम से किया गया है, जो इस्लाम का मान्य धर्मग्रन्थ है। इस्लाम में ईश्वर की एकता तथा अद्वितीयता पर ज़ोर दिया गया है। साथ ही मुहम्मद को ईश्वर का अन्तिम दूत माना जाता है। इस्लाम की शिक्षाएँ तत्कालीन अरबवासियों के लिए लाभदायक थीं, क्योंकि उस समय अरब में नाना देवताओं की पूजा, मूर्तिपूजा, मनुष्यपूजा आदि के विश्वास प्रचलित थे। सामाजिक स्थिति भी शोचनीय थी। स्त्रियों को वासनापूर्ति का साधनमात्र समझा जाता था। बहुविवाह, दासप्रथा आदि का भी प्रचार था।

इन परिस्थितियों में मुहम्मद ने एकमात्र ईश्वर को ही पूज्य एवं उपास्य स्वीकार किया तथा धर्म एवं समाज के क्षेत्र में नानाविध सुधार किये। किंतु इस्लाम का प्रचार सहिष्णुता तथा समझाने-बुझाने से नहीं हुआ। इस्लाम के अनुयायियों ने अपनी मान्यताओं के प्रचार हेतु तलवार का सहारा लिया। जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार करने में संकोच किया, उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। इस प्रकार ताकत

के द्वारा फैला इस्लाम संसार में अत्याचार एवं आतंक का प्रतीक बन गया। इस्लाम का दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष शून्यप्राय है। वह कुछ कर्मकाण्डों और मान्यताओं का पुंजमात्र है। उसमें ईसाई और यहूदियों के अनेक विश्वासों को भी यथावत् स्वीकार कर लिया गया। स्वर्ग और नरक, ईश्वर और देवदूत आदि के सम्बन्ध में इस्लाम की धारणाएँ विचित्र एवं हास्यास्पद हैं। मुसलमान रोज़ा, नमाज़, हज, दान आदि को पुण्य कर्म मानते हैं। अहिंसा, प्रेम, करुणा आदि कोमल अनुभूतियों के लिए इस्लाम में विशेष स्थान नहीं है।

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

ग्रन्थ को समाप्त कर स्वामी दयानन्द ने वेदादि शास्त्रों के आधार पर अपने मान्य सिद्धान्तों का वर्णन किया है। वस्तुतः ये कोई नवीन सिद्धान्त अथवा मन्तव्य नहीं हैं, परन्तु प्राचीन काल के वेद, उपनिषद् तथा अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित विचार हैं जिन्हें ऋषि-मुनि सदा से मानते आए हैं। कोई नवीन मत प्रवर्तित करना स्वामी दयानन्द का अभीष्ट नहीं था। वे सत्य के पक्षपाती और असत्य के विरोधी थे। उनकी दृष्टि में मनुष्य वही है जो मननशील होकर अपने सुख-दुःख के समान अन्यों के सुख-दुःख को समझता है, जो अन्यायकारी बलवान् से भी नहीं डरता किंतु धर्मात्मा निर्बल से भी डरता है। इस प्रकरण में ईश्वर, वेद, धर्म, जीव, ईश्वर और जीव का स्वरूप, अनादि पदार्थ, प्रवाह से अनादि सृष्टि, सृष्टि का प्रयोजन, सृष्टि सकर्तृक, बंध, मुक्ति, मुक्ति

के साधन, अर्थ, काम, वर्णाश्रम, राजा, प्रजा, न्यायकारी, देव आदि की परिभाषा, देवपूजा, शिक्षा, पुराण, तीर्थ, पुरुषार्थ और प्रारब्ध, मनुष्य, संस्कार, यज्ञ, आर्य, आर्यावर्त, आचार्य, शिष्य, गुरु, पुरोहित, उपाध्याय, शिष्टाचार, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्त, पाँच प्रकार की परीक्षा, परोपकार, स्वतन्त्र-परतन्त्र, स्वर्ग, नरक, जन्म, मृत्यु, विवाह, नियोग, स्तुति, प्रार्थना, उपासना तथा सगुण-निर्गुण स्तुति, प्रार्थना, उपासना—ये 51 मन्तव्य व्याख्यात एवं परिभाषित किये गए हैं।

ग्रन्थ के उपसंहार में लेखक आशा व्यक्त करता है कि सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में प्रत्यक्ष हो जावे जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ-काम-मोक्ष को सिद्ध करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें। इस प्रकार महाविद्वान् स्वामी विरजानन्द सरस्वती के शिष्य परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वामी-विरचित यह सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ समाप्त होता है।

सत्यार्थ सूक्ति सुधा

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने में मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश करना समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय वैसा, किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।

यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसा ही दूर देशस्थ वा मतोन्नतिवालों के साथ भी वर्तता हूँ। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी वर्तना योग्य है।

—भूमिका

ओ३म् यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है।

●

जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें से प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव

का एक-एक नाम है। इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् हैं क्योंकि वेदादिशास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण, कर्म, स्वभाव व्याख्यात किये गए हैं।

—प्रथम समुल्लास

●

वह कुल धन्य, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता।

वह जन्मपत्र नहीं किंतु उसका नाम शोकपत्र रखना चाहिए क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सबको आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द तब तक होता है जब तक जन्मपत्र बने ग्रहों का फल न सुनें।

—द्वितीय समुल्लास

●

ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे; और अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं, और जिनका आत्मा पक्षपात-सहित है उनके बनाए हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

भारतवर्ष में स्त्रियों की भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं, यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी, और

स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुर-संग्राम घर में मचा रहे, फिर सुख कहाँ?

—तृतीय समुल्लास

●

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है; और जहाँ विरोध और कलह होता है वहाँ दुःख, दरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इसलिए जैसे स्वयंवर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती है वही विवाह उत्तम है।

स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष को पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।

जो कोई गृहाश्रम की निंदा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरुष, दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों।

—चतुर्थ समुल्लास

●

संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा, औरों को भी डुबावेगा। जैसे 'सम्राट्' चक्रवर्ती राजा होता है वैसे 'परिव्राट्' संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है।

जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं जिससे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते-कराते हैं वे ही धर्मात्माजन संन्यासी और महात्मा हैं।

—पंचम समुल्लास

●

एक को स्वतंत्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए, किन्तु राजा जो सभापति तदधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे।

क्षत्रियों को दृढ़ांग और बलयुक्त होना चाहिए क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे तो राज्यधर्म ही नष्ट हो जाएगा। और इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि 'यथा राजा तथा प्रजा' जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है, इसलिए राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें किन्तु सब दिन धर्म, न्याय से वर्त कर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।

—षष्ठ समुल्लास

●

जो परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिए दे रक्खे हैं उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।

जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद, अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उसको मानते हैं। —सप्तम समुल्लास

●

किसी संस्कृत-ग्रन्थ में वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आए और यहाँ के जंगलियों से लड़कर जय पाके, निकाल, इस देश के राजा हुए, पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है?

कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं होता। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।

—अष्टम समुल्लास

●

परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात-रहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से

पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात-रहित न्याय-धर्मानुसार ही करे—इत्यादि साधनों से मुक्ति, और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से बंध होता है।

—नवम समुल्लास

●

जब तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।

जब आपस में भाई, भाई से लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष के पहले हुई थीं उनको भी भूल गए? आपस की फूट से कौरव-पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा! उसी दुष्ट दुर्योधन, गोत्र-हत्यारे, स्वदेशविनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों से नष्ट हो जाय।

—दशम समुल्लास

●

इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। और यह संसार

की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन, असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थ-रहितता, ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है।

जब उत्तम उपदेशक होते हैं तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते तब अन्ध परम्परा चलती है।

''जो उन्नति करना चाहो तो 'आर्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा, क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है वैसा दूसरा नहीं हो सकता।''

जो बाल्यावस्था में एक-सी शिक्षा हो, सत्यभाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्या भाषणादि अधर्म का त्याग करें तो एक मत अवश्य हो जाय और दो मत अर्थात् धर्मात्मा और अधर्मात्मा सदा रहते हैं, वे तो रहें; परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है और जब अधर्मी अधिक होते हैं, तब दुःख। जब सब विद्वान् एक-सा उपदेश करें तो एक मत होने में कुछ भी विलम्ब न हो। —एकादश समुल्लास

जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों में महाअन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है, इसलिए सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्य-जाति का मुख्य काम है। अनुभूमिका : द्वादश समुल्लास

●

"सब मनुष्यों को उचित है कि सब के मत-विषयक पुस्तकों को देख-समझकर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें, क्योंकि जैसे पढ़ने से पण्डित होता है, वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है।...जो कोई पक्षपात- रूप यानारूढ़ होके देखते हैं, उनको न अपने और न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।"

अनुभूमिका : त्रयोदश समुल्लास

●

"यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष, और गुणों को गुण जानकर, गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ-दुराग्रह न्यून करें-करावें, क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए न होते हैं।" अनुभूमिका : चतुर्दश समुल्लास

●

मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना

मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता, किन्तु जो-जो आर्यावर्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन हैं उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य-धर्म से बहिः है।

मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महाअनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सदा किया करे, इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवें।

जो-जो बात सबके सामने माननीय है उनको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा, और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ; और जो मत-मतान्तरों के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न (पसन्द) नहीं करता क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों

का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा के परस्पर शत्रु बना दिए हैं। इस बात को काट, सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबसे सबको सुख-लाभ पहुँचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्त जनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावें, जिससे सब लोग सहज में धर्मार्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

●

परिशिष्ट

सत्यार्थप्रकाश : प्रथम संस्करण

बारह समुल्लासों का सार-संक्षेप

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (1875) के प्रकाशन की पृष्ठभूमि को हम इस ग्रन्थ के आरम्भ में 'एक ऐतिहासिक विश्लेषण' शीर्षक के अन्तर्गत देख चुके हैं।

इस प्रारम्भिक विवेचना के पश्चात् हम प्रथम संस्करण की विस्तृत गवेषणा आरम्भ करते हैं। द्वितीय संस्करण की भाँति इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण भी पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है, प्रथमार्द्ध अथवा प्रथम भाग की समाप्ति दसवें समुल्लास के पश्चात् होती है, किन्तु द्वितीयार्द्ध में आर्यावर्तीय मतमतान्तरों की समालोचनायुक्त एकादश समुल्लास तथा जैन, बौद्ध आदि अवैदिक मतों की समीक्षावाला द्वादश समुल्लास ही सम्मिलित हो सका है। इस्लाम की समीक्षा से सम्बन्धित त्रयोदश तथा ईसाइयत की अलोचनायुक्त चतुर्दश समुल्लास प्रथम संस्करण में नहीं छप सके। यहाँ इन सभी समुल्लासों में प्रतिपादित विषयों का विस्तृत विश्लेषण करना हमें अभीष्ट है।

प्रथम समुल्लास—'शन्नो मित्रः' तैत्तिरीय आरण्यक

के इस स्तुतिपरक मन्त्र को ग्रन्थारम्भ में उद्धृत कर लेखक ने ईश्वर के प्रमुख नाम 'ओम्' की व्याख्या की है। तदनन्तर उन्होंने ईश्वर के 100 नामों की व्युत्पत्ति तथा परिभाषा प्रस्तुत की है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि परमात्मा के ये 100 नाम लेखक ने उपलक्षणार्थ ही दिये हैं, क्योंकि समग्र विवेचित नामों की संख्या 100 से बढ़ जाती है। प्रथम संस्करण में 19 नाम ऐसे हैं, जो संशोधित द्वितीय संस्करण में नहीं मिलते। ये नाम हैं—

(1) अचिन्त्य, (2) अहंकार, (3) आपः, (4) चक्षुः, (5) चित्त, (6) जीव, (7) नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव, (8) निर्भय, (9) बुद्धि, (10) मन, (11) वाणी, (12) शिवशंकर, (13) श्रोत्र, (14) सर्वजगत्कर्ता, (15) सूक्ष्म, (16) महान्, (17) अप्रमेय, (18) अप्रमादी, और (19) होम।

प्रथम संस्करण के **द्वितीय समुल्लास** में बालकों की शिक्षा का विषय वर्णित हुआ है। द्वितीय संस्करण से यह अधिक भिन्न नहीं है। अध्ययन और अध्यापन की विधि से सम्बन्धित तृतीय समुल्लास अनेक दृष्टियों से द्वितीय संस्करण के इसी संख्यावाले समुल्लास से भिन्न है। यहाँ प्रथम गायत्री मन्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करने के पश्चात् यह तो लिख दिया कि इस मन्त्र को पुत्रों एवं कन्याओं को कण्ठस्थ करा देना चाहिए परन्तु कन्याओं के यज्ञोपवीत का स्पष्ट निषेध कर दिया है। द्वितीय संस्करण में यह प्रकरण इस प्रकार लिखा गया है—"द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य-कुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।"

सत्यार्थप्रकाश के विद्वान् सम्पादक पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने 'यथायोग्य' शब्द के आगे कोष्ठक में 'यज्ञोपवीत' शब्द रखकर पाद-टिप्पणी में यह स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रसंग में स्वामी दयानन्द को कन्याओं का भी यज्ञोपवीत कराना अभीष्ट है। वे स्वामी जी के इस वाक्य को मनुस्मृति के 'अनेक क्रमयोगेन' इस श्लोक की व्याख्या मानते हैं तथा 'यथायोग्य' शब्द का अभिप्राय उपनयन-संस्कारस्थ वस्त्रादि प्रदान की उन विधियों से ग्रहण करते हैं, जिनमें बालक-बालिका में भेद करना आवश्यक होता है।

तदनन्तर पंचमहायज्ञों की विधि का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकरण में पितृयज्ञ की विधि लिखते हुए ग्रन्थकार के आशय के विपरीत लिपिकर्ता ने मृतकश्राद्ध-विधायक यह वाक्य प्रक्षिप्त किया है—"पित्रादिकों में जो कोई जीता होय उसका तर्पण न करे और जितने मर गए होंय, उनका अवश्य करें।" इसी अभिप्राय को इसी अध्याय में आगे पुनः व्यक्त किया है—"तर्पण किसका नाम है कि तृप्ति का, और श्राद्ध किसका नाम है जो श्रद्धा से किया जाता है। मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है।" जैसा कि हम देख चुके हैं, मृतकश्राद्ध के इस उल्लेख के विषय में किन्हीं पाठकों द्वारा ध्यान आकृष्ट किये जाने पर स्वामी जी ने अपना वक्तव्य प्रसारित कर दिया था कि सत्यार्थप्रकाश में प्रकाशित ये पंक्तियाँ उनकी विचारधारा के प्रतिकूल हैं तथा लिखने और शोधनेवालों की भूल से छप गई हैं।

मृतकश्राद्ध की ही भाँति एक अन्य विषय जो सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण में प्रक्षिप्त किया गया, वह था यज्ञ में पशुहिंसा तथा मांसविधान। ऐसा प्रतीत होता है

कि प्रक्षेपकर्ता ने इस विषय को अत्यन्त चतुराई से एकाधिक स्थानों पर घुसेड़ने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम तो इसी समुल्लास में जहाँ अग्निहोत्र में प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों का उल्लेख किया गया है, वहाँ होम में डाले जानेवाले पुष्टिकारक पदार्थों में दूध-घी के साथ 'मांसादिक' को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इसी प्रकार चतुर्थ समुल्लास में पाराशर स्मृति के "अश्वालम्भं गवालम्भं" श्लोक की समीक्षा में भी याज्ञिकी हिंसा को स्वीकार किया गया है। "यदन्नाः पुरुषा लोके तदन्नाः पितृदेवता" महाभारत के इस वचन को उद्धृत करने के पश्चात् मनुस्मृति के एक श्लोक का आशय लेते हुए यहाँ लिखा है—"जो पदार्थ आप खाय उसी से पंच महायज्ञ करे, अर्थात् पितृदेवपूजा भी उसी से करे, अर्थात् श्राद्ध और होम उसी का करे। मधुपर्क, विवाहादिक और गोमेधादिक यज्ञ और देवपितृ कार्य—इनमें मांस को जो खाता होय तो उसके वास्ते मांस के पिण्ड करने का विधान है। इससे मांस के पिण्ड देने में भी कुछ पाप नहीं।" आश्चर्य है कि यज्ञों और देवपितृ कार्यों के नाम पर होने वाली हिंसा का प्रारम्भ से ही प्रबल विरोध करनेवाले व्यक्ति के ग्रन्थ में भी उपर्युक्त प्रकार से मांसविधायक वाक्य प्रक्षिप्त करने का अवसर इन लोगों को मिल गया। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में इस प्रसंग का पूर्ण परिमार्जन लेखन ने स्वयं कर दिया तथा स्पष्ट लिख दिया—"जब मांस का निषेध है तो सर्वदा ही निषेध है।"

संन्यासियों के कर्तव्यों का विधान करनेवाले पंचम समुल्लास में भी याज्ञिकी हिंसा को विधेय मानने के विचार को, सन्दर्भ न होने पर भी प्रविष्ट करने का प्रयत्न यह सिद्ध

करता है कि सत्यार्थप्रकाश का यह लिपिकर्ता मानो ऐसा करने के लिए बद्धपरिकर ही था। तभी तो संन्यासियों के द्वारा आचरणीय मनुप्रोक्त दश लक्षणात्मक धर्म की व्याख्या करने के अनन्तर मनुस्मृति के द्वादशाध्याय में वर्णित शरीरकृत अशुभ कर्मों का उल्लेख करते हुए 'हिंसा चैवाविधानतः' की व्याख्या में वह यह लिख देता है—"हिंसा नाम पशुओं का हनन करना, अपनी इन्द्रियों की पुष्टि के वास्ते मांस खाना और पशुओं का मारना यह राक्षस विधान है। और यज्ञ के वास्ते जो पशुओं की हिंसा है सो विधिपूर्वक हनन है।"

मनुस्मृति के श्लोक का आधार लेकर यज्ञों के नाम पर की जानेवाली पशुहिंसा को 'विधिपूर्वक हनन' कहनेवाले प्रक्षेपकर्त्ता को यह ध्यान नहीं रहा कि इस समुल्लास में तो संन्यासियों के कर्त्तव्यकर्मों का ही विधान किया गया है। शास्त्रों के अनुसार तो संन्यासी के लिए अब यज्ञ भी कर्त्तव्य-कर्म नहीं रहा, फिर उसे 'विधिपूर्वक की गई हिंसा से भिन्न' हिंसा से बचने का उपदेश देने का क्या अर्थ है? संन्यासी के लिए तो सभी स्थितियों में अहिंसाचरण ही कर्त्तव्य माना गया है।

दशम समुल्लास तो भक्ष्याभक्ष्य से ही सम्बन्धित है, अतः मांसाहार के विधायक वाक्यों को इस अध्याय में डालना प्रक्षेपकर्त्ता के लिए अधिक सुविधाजनक था। भक्ष्याभक्ष्य का विचार करते हुए वह लिखता है—"जितने मुनष्यों के उपकारक पशु उनका मांस अभक्ष्य तथा विना होम से अन्न और मांस भी अभक्ष्य है।" अर्थापत्ति से मानो वह कहना चाहता है कि यज्ञ में प्रयुक्त मांस भक्ष्य है। इसी प्रसंग में

प्रक्षेपकर्त्ता ने मांसाहार के समर्थन में एक ऐसी युक्ति भी दे दी है, जो प्रायः मांसाहार के समर्थक देते रहते हैं कि "यदि कोई भी मांस न खाय तो जानवर, पक्षी, मत्स्य और जल जन्तु इतने हैं, उनसे शत सहस्र गुने हो जाएँ, फिर मनुष्यों को भी मारने लगें आदि।"

गोमेधयज्ञ में पशुहिंसा होती है—यह प्रक्षेपकर्त्ता का अभिप्राय है। इसे स्पष्ट करते हुए वह लिखता है—"जहाँ-जहाँ गोमेधादिक लिखे हैं, वहाँ-वहाँ पशुओं में नरों को मारना लिखा है····।" 'गौरनुबन्ध्यो अग्नीषोमीयः' इस ब्राह्मणवाक्य को उद्धृत करने के पश्चात् प्रक्षेपकर्त्ता यह स्पष्ट कर देता है कि इस वाक्य में पुंल्लिग-निर्देश से बैल के मारे जाने का विधान ही स्पष्ट होता है, न कि गाय के मारने का। तथापि वह यह भी मान लेता है कि शास्त्रों में बंध्या गाय को मारने का भी विधान मिलता है। प्रक्षेपकर्त्ता ने यज्ञ में पशुघात के समय मरनेवाले पशु की पीड़ा का ध्यान रखते हुए यह तो लिख दिया कि—जीव को मारने के समय पीड़ा होती है, उससे कुछ पाप भी होता है, परन्तु इसका समाधान वह यह कहकर देता है कि "अग्नि में होम करने से जब सब जीवों को सुख पहुँचेगा तो एक जीव की पीड़ा से जो पाप हुआ था, वह भी थोड़ा ही गिना जाएगा।" कहना नहीं होगा कि यह सारी दूषित तर्कप्रणाली उन लोगों द्वारा आविष्कृत की गई है, जो यज्ञ में पशुहिंसा के समर्थक थे और मांस से हवन करना उचित मानते थे। स्वामी दयानन्द इन विचारों के प्रारम्भ से ही विरोधी थे, परन्तु आश्चर्य है कि उनके ही ग्रन्थ में 'याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति' के दावेदारों को इस प्रकार के विचार मिश्रित कर देने का अवसर

मिल गया।

सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण में मांसविधान का अन्तिम प्रक्षेप द्वादश समुल्लास में किया गया है। जैनमतावलम्बियों की यज्ञविषयक आपत्तियों का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती (वस्तुतः सत्यार्थप्रकाश का लिपिकर्त्ता पण्डित) कहता है— "पशुओं को मारने से थोड़ा-सा दुःख होता है परन्तु यज्ञ में चराचर का अत्यन्त उपकार होता है, इसको जो जानते तो कभी यज्ञ के विषय में तर्क न करते।" उपर्युक्त कथन सत्यार्थप्रकाश के लेखक के अभिप्राय से नितान्त विपरीत है तथा प्रक्षेपकर्त्ता की शरारतपूर्ण कार्यवाही है। यह बात तब और स्पष्ट हो जाती है जब हम आगे देखते हैं कि ग्रन्थकार ने यज्ञ में पशुहिंसा से स्वर्ग की प्राप्ति के कथन को वेदविरुद्ध बताया है और स्पष्ट कर दिया है कि "यज्ञ में पशु को मारने से स्वर्ग में जाता है—यह बात किसी मूर्ख के मुख से सुन ली होगी, ऐसी बात वेद में कहीं नहीं लिखी।" यदि यज्ञ में पशुहिंसा के विधान को स्वामी दयानन्द शास्त्रीय मानते तो वे यज्ञों में हिंसा-कृत्यों के समर्थक उन लोगों के विचारों से सहमति ही व्यक्त करते, जो यह कहते रहते हैं कि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में पशुओं को मारकर होमने से यजमान को स्वर्ग-प्राप्ति होती है। परन्तु हम यह देखते हैं कि सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में उद्धृत चार्वाक मत के प्रतिपादक विभिन्न श्लोकों की समीक्षा करते हुए भी स्वामी दयानन्द ने याज्ञिकी हिंसा तथा मृतकश्राद्ध के चार्वाककृत खण्डन को उचित ही ठहराया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि यज्ञ में पशुहिंसा-विधान तथा उसके पश्चात् मांसभक्षण स्वामी जी के प्रथम संस्करण में यत्र-

तत्र प्रक्षिप्त किया गया था।

तृतीय समुल्लास में विवेचित अन्य विषय बालकों की शिक्षा से सम्बन्धित हैं। लेखक का विचार है कि शिक्षा प्रत्येक बालक के लिए अनिवार्य होनी चाहिए। जो माता-पिता अपनी सन्तानों को शिक्षित न करें, वे दण्ड के पात्र हैं। लेखक के मतानुसार शूद्रों के बालक यज्ञोपवीत के बिना सभी शास्त्रों के पढ़ने के अधिकारी घोषित किये गए हैं, परन्तु निश्चय ही वेदसंहिताओं को पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। आगे चलकर स्वामी दयानन्द ने वेद के अध्ययनाधिकार विषय पर अधिक गम्भीरता से विचार किया तथा 'यथेमां वाचं' इस यजुर्मन्त्र (26/2) के आधार पर मनुष्यमात्र को वेद के अध्ययन का अधिकारी घोषित किया।

इसी समुल्लास में प्रमाणमीमांसा का विषय भी विवेचित हुआ है। यहाँ लेखक ने वैशेषिक, सांख्य तथा वेदान्तदर्शन में स्वीकृत प्रमाणों की विवेचना करने के पश्चात् न्यायदर्शन में स्वीकृत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार को ही प्रमाणरूप में स्वीकार किया है, परन्तु साथ ही वह यह भी संकेत कर देता है कि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव को मिला लेने से प्रमाणों की संख्या आठ भी स्वीकार की जा सकती है। तदनन्तर पठन-पाठन की व्यवस्था और विभिन्न ग्रन्थों के प्रामाण्याप्रामाण्य का विषय वर्णित हुआ है। इसी प्रसंग में लेखक ने यूरोपीय जातियों द्वारा की गई समसामयिक वैज्ञानिक उन्नति का भी उल्लेख किया है तथा इस नव-विकसित शिल्पशास्त्र को भी पाठ्यक्रम में स्थान देने की बात कही है।

षड्दर्शनों में अविरोध की चर्चा भी इसी समुल्लास में

हुई है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि विरोध तो एक विषय में परस्पर विरुद्ध कथन करने से होता है। ये शास्त्र तो परस्पर सहायकारी शास्त्र हैं। इन सबके द्वारा पदार्थविद्या समन्वित रूप से प्रकाशित हुई है। अन्त में विद्या-प्राप्ति के मार्ग में आनेवाले विद्वानों की चर्चा करने के पश्चात् इस समुल्लास को समाप्त किया है।

विवाह और गृहस्थ आश्रम का विधान करनेवाले **चतुर्थ समुल्लास** में वर्णविधान, वर्णपरिवर्तन, विवाहविधान, शीघ्रबोध के बाल-विवाहपरक श्लोकों का खण्डन तथा सादगी के साथ विवाह सम्पन्न करने जैसे विषय आरम्भ में विवेचित हुए हैं। सत्यार्थप्रकाश का लेखक कितना दूरदर्शी तथा लोकहित का विधायक है, इस तथ्य की पुष्टि इसी बात से होती है कि वह बार-बार इस बात पर जोर देता है कि विवाहों के अवसर पर घर-फूँक तमाशा देखना या दिखाना अनुचित है।

नारी-जाति के गौरव को प्रस्तुत करनेवाले मनुस्मृति के श्लोकों को उद्धृत करने के अनन्तर लेखक 'पूजा' शब्द के वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट करता है। मनु के प्रसिद्ध श्लोक "पतिसेवा गुरौ वासो" का अर्थ करते हुए लेखक ने लिखा—"विवाह की जितनी विधि है सो वेदोक्त ही है। स्त्रियों का विवाह वेद की रीति से होना चाहिए और पति की सेवा अत्यन्त करनी चाहिए, यही स्त्री का मुख्य कर्म है और विवाह के पहले 'गुरौ वास' नाम-स्त्री लोग पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्याश्रम करें और गृहकार्य जानने के लिए अवश्य विद्या पढ़ें। अग्नि परिक्रिया नाम अग्निहोत्रादिक यज्ञ करने के लिए अवश्य वेदों को पढ़ें।" निश्चय ही स्वामी दयानन्द-

कृत उक्त श्लोक का उपर्युक्त अर्थ टीकाकारों द्वारा किये गए अर्थों से प्रकृत्या भिन्न तथा लोक से हटकर है।

पञ्च महायज्ञों के विधान के अन्तर्गत प्रथम संध्या का उल्लेख किया गया है। "ना तिष्ठति तु यः पूर्वात्" इस मनुस्मृति के आदेश की व्याख्या के प्रसंग में लेखक अपने मन्तव्य को प्रकट करते हुए लिखता है—"जो प्रातःकाल और सायंकाल की संध्या नहीं करता उसको श्रेष्ठ द्विज लोग सब द्विज-कर्माधिकारों से निकाल देवें, अर्थात् यज्ञोपवीत को तोड़ के शूद्रकुल में कर देवें।" विवाह की चर्चा के प्रसंग में लेखक का ध्यान उन प्रचलित किन्तु गर्हित लोकाचारों तथा हानिकर सामाजिक विधानों की ओर भी अनायास ही चला जाता है, जो इस नितान्त निर्दोष सामाजिक विधि के साथ साम्प्रतिक काल में जुड़ गए हैं, यथा—कन्या के पिता से धन लेकर पुत्र का विवाह करना, बंगाल में प्रचलित कुलीन प्रथा, जिसके कारण एक ही कुलीन ब्राह्मण अपने जात्याभिमान के कारण अनेक स्त्रियों से विवाह करता है, आदि रिवाज उसकी आलोचना के शिकार हुए हैं।

चतुर्थ समुल्लास में आपद्धर्म के रूप में नियोग की भी चर्चा हुई है और इस प्रथा के समर्थन में लेखक ने विभिन्न शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक प्रमाण भी दिये हैं। इसी प्रसंग में लेखक ने अन्य स्मृतियों की तुलना में मनुस्मृति के महत्त्व का निरूपण किया है तथा इस स्मृति की वरीयता घोषित करने में अनेक प्रमाण भी दिये हैं। इस समुल्लास के अन्त में गार्गी, मैत्रेयी आदि पुराकालीन महिमामयी नारियों के ओज, तेज आदि गुणों की चर्चा करने के उपरान्त लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय महिला-वर्ग के गौरव की

हानि मुसलमानी शासनकाल में हुई जबकि उनकी स्वतन्त्रता का हनन किया गया और उन्हें बलात् पर्दे के पीछे रहने के लिए विवश किया गया।

वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के कर्त्तव्यों का विधायक **पञ्चम समुल्लास** मुख्यतः मनुस्मृति पर ही आधारित है। मनूक्त दशलक्षणात्मक धर्म को लेखक ने सभी आश्रमवासियों के लिए समान रूप से आचरण-योग्य बताया है, परन्तु यहाँ भी उसने धृति, क्षमा आदि धर्म के दश लक्षणों में 'अहिंसा' को अपनी ओर से जोड़कर 'एकादश लक्षणात्मक धर्म' की व्याख्या की है। यह उसकी अपनी उद्भावना मानी जा सकती है। इस एकादश लक्षणवाले धर्म का संकेत 'उपदेश-मञ्जरी' में भी पाया जाता है।

राजधर्मों का विवेचन करनेवाला **छठा समुल्लास** मुख्यतः मनुस्मृति से उद्धृत श्लोकों को आधार बनाकर ही लिखा गया है। इसमें राजा की उत्पत्ति, राजा के लक्षण, सचिवों की नियुक्ति, शासन-प्रणाली में प्रजातन्त्र की स्वीकृति, दूत, दुर्ग, पुरोहित आदि की व्याख्या के पश्चात् युद्धों के नियम वर्णित किये हैं। पश्चात् राजाओं के लिए आचरणीय पुरुषार्थचतुष्टय की व्याख्या करने के उपरान्त लेखक अनिवार्य शिक्षा पर विशेष बल देता है। प्रसंगोपात्त लेखक राजा से यह भी अपेक्षा रखता है कि वह अपने राज्य में अनार्ष ग्रन्थों का प्रचलन बन्द कर देगा और वेदादि सत्य शास्त्रों को ही प्रचलित करेगा। लेखक का आक्रोश शैव, शाक्त, वैष्णव आदि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति भी व्यक्त हुआ, क्योंकि उसके विचारानुसार इसी पाखण्डी मतों के प्रचलित होने से राजा और प्रजा की महती हानि हुई है। जो

लोग मिथ्या वैराग्य के वशवर्ती होकर संन्यास लेने का झूठा दिखावा करते हैं और साधुओं तथा वैरागियों की मण्डलियाँ बाँधे निरर्थक इतस्ततः भ्रमण करते हैं, उनको इस कार्य से रोककर हल-ग्रहणादि कृषि-कर्मों में लगाने की प्रेरणा देना भी लेखक अपना कर्त्तव्य समझता है।

पुनः राजा की दिनचर्या, दण्डविधान, अष्टादश व्यवहारों (मामलों) का निर्णय, साक्षी-विधान, दण्डभेद, कराधान, दायभाग, पशु-रक्षा, युद्ध-नीति आदि सभी विषय मनु के आधार पर वर्णित हुए हैं।

लेखक ने बड़ी पीड़ा के साथ इस बात को अनुभव किया है कि आज के युग में खान-पान-विषयक अनावश्यक तथा असहिष्णुतापूर्ण बन्धनों एवं विवाह जैसी रीतियों में संकीर्णता बरतने के कारण आर्यावर्त के लोगों की दशा अत्यन्त हीन हो गई, जबकि प्राचीन काल में ऐसे बन्धन सर्वथा नहीं थे। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में भोजनादि के नियमों की व्याख्या प्रधानतः दशम समुल्लास में की गई, परन्तु प्रथम संस्करण के षष्ठ समुल्लास में राजाओं के कर्त्तव्यों का विधान करते हुए लेखक ने भोजन में प्रचलित पाखण्डों और दुष्ट रीतियों को विच्छिन्न करने का दायित्व भी राजा का ही बताया है। लेखक अत्यन्त वेदनापूर्वक लिखता है—"भोजन के पाखण्डों से आर्यावर्त देश का नाश हो गया। ब्राह्मणादिक चौका देने लगे, ऐसा चौका दिया कि राज्य, धन और स्वतन्त्रतादिक सुखों के ऊपर चौका ही फेर दिया कि सब आर्यावर्त देश को सफाचट कर दिया।"

दयानन्द सरस्वती द्वारा विवेचित इस राजधर्म प्रकरण की एक अन्य विशेषता भी है। यों तो सामान्यतः सारा ही प्रसंग

मनुस्मृति में शताब्दियों पूर्व लिख गए विधानों का पुनः प्रस्तुतीकरण मात्र ही दिखाई पड़ता है, परन्तु गहराई में जाने पर हम अनुभव करते हैं कि समसामयिक देश-दशा तथा समाज की स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही लेखक ने इसमें कुछ ऐसे संकेत भी दिये हैं जो उसकी मर्मभेदी दृष्टि, वैचारिक प्रगतिशीलता तथा तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति उसकी जागरूकता का प्रमाण है। उदाहरणतः चोरों को दण्ड देने के प्रकरण में लेखक ने दो प्रकार के चोरों का उल्लेख किया है। स्तेय-वृत्ति को धारण करनेवाले प्रसिद्ध चोर तो हैं ही। लेखक उन पाखण्डियों को भी चोर की संज्ञा प्रदान करता है जो मन्दिरों की स्थापना कर जनता का धन हरण करते हैं अथवा मिथ्या वैराग्य का दिखावा कर चेले मूँडते हैं तथा लोगों को फुसलाते हैं। ग्रन्थकार के अनुसार ऐसे चोर भी राजा के द्वारा दण्डनीय होते हैं। उसके विचार में भागवत आदि पुराणों की कथा करनेवाले, जो इन कथाओं के माध्यम से धार्मिक अन्धविश्वासों का ही प्रचार करते हैं, मन्दिरों के पुजारी तथा सम्प्रदायाभिमानी लोग भी वंचक या ठग हैं तथा राजाओं द्वारा दण्डित किये जाने योग्य हैं। अध्याय की समाप्ति पर लेखक ने इस बात पर बड़ा दुःख प्रकट किया है कि जैन और मुसलमानों ने आर्यजाति के पुरातन गौरव को व्यक्त करनेवाले नाना इतिहास-ग्रन्थों को नष्ट कर दिया है। फलतः हम उस युग की अनेक बातों से अनभिज्ञ ही रह गए हैं, जबकि आर्यावर्त के राजाओं की आज्ञा और राज्य सब द्वीप-द्वीपान्तरों में था।

सप्तम समुल्लास का विषय ईश्वर और वेद की व्याख्या है। प्रारम्भ में 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इस यजुर्मन्त्र को

उद्धृत करने के पश्चात् लेखक ने इसकी व्याख्या में लिखा—
''तस्मै एकस्मै परमेश्वराय देवाय हवि नाम प्राण, चित्त, मनादिकों से स्तुति, प्रार्थना और उपासना हम लोग नित्य करें।''

ध्यान देने की बात यह है कि पूर्वाचार्यों द्वारा किये गए वेदार्थ की तुलना में स्वामी दयानन्द का यह मन्त्रार्थ विशिष्टता लिये हुए है। सायणाचार्य जहाँ 'हविषा' का अर्थ 'प्रजापति देवता के प्रीत्यर्थ मारे गए पशु की वपा-रूप एक कपालात्मक पुरोडाश' करते हैं तथा इसी पाशवी हवि से प्रजापति की परिचर्या करना मानते हैं, वहाँ स्वामी दयानन्द ने चित्त मन एवं प्राण से एकमना होकर परमात्मा की स्तुति और भक्ति को ही सच्चा 'हवि अर्पण' माना है। इस प्रकार ईश्वर की विवेचनावाले अध्याय का आरम्भ ही लेखक ने प्रार्थना-विधायक वैदिक मन्त्र को उद्धृत कर किया है। मुख्य विषय की आलोचना के प्रसंग में ग्रन्थकार ने चार्वाक आदि अनीश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किये गए 'स्वभाववाद' को पूर्वपक्ष-रूप में प्रस्तुत कर उसका समाधान किया है। पुनः त्रिविध प्रमाणों के आधार पर भी ईश्वरीय सत्ता की सिद्धि की गई है। लेखक की यह धारणा है कि न्यायदर्शन में स्वीकृत उपमान प्रमाण से तो परमात्मा की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि परमेश्वर के सदृश कोई पदार्थ नहीं जिसकी उपमा परमेश्वर में हो सके, किन्तु अलंकारशास्त्र में उल्लिखित 'अनन्वय' का सहारा लेकर वह यह स्पष्ट कर देता है कि परमेश्वर की उपमा परमेश्वर से ही की जा सकती है।

ईश्वर के स्वरूप, लक्षण आदि का विवरण देते हुए

ग्रन्थकार मुख्यतः उपनिषद्-वाक्यों को ही प्रस्तुत करता है। वह इन्हें शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत उद्धृत करता है, जिनसे परमात्मा की सत्ता की पुष्टि होती है। जो उपनिषद्वाक्य तथा मन्त्रों के प्रमाण यहाँ उद्धृत किये गए हैं, वे हैं—'दिव्यो ह्यमूर्तः', 'न तत्र सूर्यो भाति', 'अपाणिपादो', 'अशब्दमस्पृश्यं', 'समाधिनिर्धूतमलस्य', 'आश्चर्योऽस्य वक्ता', 'सर्वे वेदा यत्पदं', 'एको देवः', 'न तस्य कार्यं', 'एष सर्वेषु भूतेषु', 'तदेजति', 'अनेजदेकं', 'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि', 'वेदाहमेतं','सर्पयगात्'। इस प्रकार संहिता तथा उपनिषद्-प्रमाणों को प्रस्तुत करने के पश्चात् लेखक ईश्वर-विषयक कतिपय उन भ्रान्तियों का निवारण करता है, जो जनसाधारण में प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ—ईश्वर रागी है या विरक्त (उदासीन)? वह दयालु है या न्यायकारी? वह सर्वशक्तिमान् और न्यायकारी किस प्रकार है? वह विद्यावान् है या नहीं? वह जन्मधारण करता है या नहीं? वह साकार है अथवा निराकार? वह चेतन है या जड़? इन प्रश्नों के उत्तर लेखक ने तर्कपूर्ण दृष्टि से दिये हैं। द्वितीय संस्करण में भी ये सभी विषय न्यूनाधिक रूप से चर्चित हुए हैं।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों की विकासशीलता तथा प्रवहमानता की दृष्टि से भी विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तक उनके दर्शनिक मन्तव्य पूर्णतया परिपक्व अथवा स्थिर नहीं हो सके थे। दूसरे संस्करण में उन्होंने ईश्वर, जीव तथा प्रकृति की तीन अनादि सत्ताओं की जिस प्रकार स्थापना की है तथा सृष्टि-रचना में प्रकृति को उपादान कारण तथा परमात्मा को कुलालवत् निमित्त कारण स्वीकार किया है,

उसे देखते हुए प्रथम संस्करण में व्यक्त उनकी दार्शनिक धारणाएँ अभी निर्माणावस्था में ही प्रतीत होती हैं। उदाहरणार्थ, इस ग्रन्थ के रचनाकाल तक लेखक को जीव की अनादि सत्ता अभिप्रेत नहीं थी। उनकी मान्यता थी कि जीवों की रचना भी ईश्वर ने ही की है, किन्तु स्वतन्त्र भी रखा है। यही बात वह प्रकारान्तर से भी लिखता है—"परमेश्वर ने जीव रचे हैं, सो केवल धर्माचरण और मुक्त्यादि सुख के वास्ते रचे हैं।" निश्चय ही आगे चलकर स्वामी दयानन्द ईश्वर द्वारा जीवों के रचे जाने की धारणा का परित्याग कर देते हैं और जीवों को भी ईश्वर के तुल्य ही अज, अनादि और कर्म करने में स्वतन्त्र मानने लगते हैं। जैन मतावलम्बियों की भाँति वे इस सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करते कि वैराग्ययुक्त विद्यादिक शुद्ध गुणों तथा अणिमादि सिद्धियों से सम्पन्न पुरुष ही ईश्वर कहलाते हैं।

वेद के विषय का प्रवर्तन करते हुए ग्रन्थकार ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामधारी आदि-सृष्टि में उत्पन्न ऋषियों के माध्यम से वेद का ज्ञान ब्रह्मा, विराट्, मनु और प्रजापति आदि परवर्ती ऋषियों को प्राप्त होना स्वीकार किया है। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं' इस उपनिषद्-वाक्य को उक्त मत की पुष्टि में प्रस्तुत करते हुए लेखक ने इसे जो वेद का प्रमाण बताया है, उससे अनुमान होता है कि उस समय तक वे यदा-कदा उपनिषद्-वाक्यों को भी श्रुति अथवा वेद के नाम से ही सम्बोधित कर देते थे।

वेदों की पौरुषेयता अथवा अपौरुषेयता के बहुत प्राचीन विवाद को स्वामी दयानन्द ने अत्यन्त सुगमतया निपटाया है। वे कहते हैं कि "वेद देहधारी का रचा नहीं है किन्तु

परमेश्वर ने ही रचा है, परन्तु वेद अपौरुषेय और पौरुषेया है क्योंकि पुरुष देहधारी जीव का नाम है, और पूर्ण होने से परमेश्वर का भी (पुरुष नाम है)। अपौरुषेय तो इससे है कि कोई देहधारी जीव का रचा नहीं है और अपौरुषेय इस वास्ते है कि पूर्णपुरुष जो परमेश्वर, उसने रचा है।'' वेद के नित्य और सार्वजनीन होने का विचार करने के अनन्तर लेखक वेद के पठन-पाठन के अधिकार का निरूपण करता है। लेखक के एतद्-विषयक विचार लगभग वही हैं, जो तृतीय समुल्लास से व्यक्त हो चुके हैं। वह यह मानता है कि मूर्ख होने के कारण शूद्र का पढ़ना या उसे पढ़ाना व्यर्थ ही है, परन्तु जिन मध्यकालीन ग्रन्थों ने शूद्रों के मन्त्र श्रवण करने पर उनके कर्णभेद आदि का विधान किया था, उनके इन क्रूरतापूर्ण तथा अमानुषी आदेशों के प्रति अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए व्यंग्यात्मक स्वर में स्वामी दयानन्द लिखते हैं—''जिसको कान इन्द्रिय है और उसके समीप जो शब्द होगा, उसको अवश्य सुनेगा'' अतः यदि शूद्र के कानों में भी वेदों का स्वर चला जाए तो उससे कोई अनर्थ होनेवाला नहीं है''—यह स्वामी दयानन्द की स्पष्ट मान्यता है। व्यास द्वारा वेदों का चतुर्विध विभाजन किया जाना भी उन्हें अस्वीकार्य है।

वेदों की रचना संस्कृत भाषा में ही क्यों हुई? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामी दयानन्द इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि संस्कृत किसी देश की भाषा नहीं है। यह सार्वजनीन और सार्वदेशिक भाषा है।

इस प्रसंग में लेखक ने आधुनिक भाषा-विज्ञान के कुछ सर्वप्रचलित सिद्धान्तों से भी अपना परिचय प्रदर्शित किया

है। इसके अनुसार—

1. सब देशभाषाओं का मूल संस्कृत है।
2. संस्कृत जब बिगड़ती है तो अपभ्रंश कहलाती है और इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से विभिन्न देशभाषाएँ बनी हैं। तत्सम और उनसे बने तद्भव शब्दों के नाना उदाहरण देकर लेखक इस तथ्य को पुष्ट करता है।
3. देशभेद से संस्कृत भाषा के शब्दों का अर्थभेद, उच्चारणभेद आदि भी हो जाता है।
4. ध्वनि, रूप और अर्थ परिवर्तन के अनेक उदाहरण इस प्रसंग में दिये गए हैं।

द्वितीय संस्करण के सप्तम समुल्लास में लेखक ने कुछ ऐसे प्रकरण बढ़ाए हैं, जो प्रथम संस्करण में नहीं आ सके थे, यथा—ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का वास्तविक रूप, ईश्वर के त्रिकालदर्शित्व की मीमांसा, जीवेश्वर-अभेद के सिद्धान्त की समीक्षा। इसी प्रकार वेद-विचार के प्रकरण में वेदसंज्ञाविचार तथा वैदिक शाखाओं का विचार भी प्रथम संस्करण में सम्मिलित नहीं हो सका था।

जैसाकि हम पूर्व देख चुके हैं, इस संस्करण के लिखे जाने तक स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों में वैसी प्रौढ़ता और परिपक्वता नहीं आ सकी थी जो उनके परवर्ती ग्रन्थों में देखने को मिलती है। इस धारणा की पुष्टि **अष्टम समुल्लास** में विवेचित विषयों के परीक्षण से भी होती है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय से सम्बन्धित यह अध्याय इस संस्करण में बहुत संक्षिप्त ही है।

सृष्टि-रचना में कारणों का विचार करते हुए लेखक लिखता है कि वह परमेश्वर एक और अद्वितीय था, दूसरा कोई नहीं था। उसके इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि लेखक को जीव तथा प्रकृति का अनादित्व उस काल में अभिप्रेत नहीं था। सृष्टि-रचना में परमात्मा का क्या प्रयोजन था, इस शंका के समाधान में लेखक कहता है कि जगद्रचना में ईश्वर के सामर्थ्य का सफल होना ही रचना का प्रयोजन है। यहाँ भी वह प्रकारान्तर से यह कहना नहीं भूलता कि सृष्टि के आदि में एक अद्वितीय परमात्मा ही था—सर्वव्यापक होने से (परमात्मा से)अत्यन्त भिन्न कोई पदार्थ नहीं।

प्रथम संस्करण की रचना होने तक स्वामी दयानन्द परमात्मा को सृष्टि का 'अभिन्न निमित्तोपादान कारण' ही मानते थे, यह दूसरी बात है कि उनकी यह धारणा शंकराचार्य आदि अद्वैत वेदान्ताचार्यों से भिन्न कोटि की है। अष्टम समुल्लास के निम्न उद्धरणों के द्वारा यह स्पष्ट हो जाएगा। हम यह देख चुके हैं कि कालान्तर में स्वामी दयानन्द ने परमात्मा को संसार का निमित्तकारण माना। परन्तु यहाँ वे इसी मत का इस प्रकार खण्डन करते हैं—"जो कोई (परमात्मा को) केवल निमित्तकारण माने तो (वह परमात्मा) जगत् का साक्षात्कर्त्ता नहीं होगा किन्तु शिल्पीवत् होगा; अथवा उसको महाशिल्पी कहो और उसके पास सामग्री भी अवश्य माननी चाहिए। फिर जो सामग्री मानेंगे तो जगत् भी नित्य होगा, क्योंकि जिससे जगत् बना है, वह सामग्री ईश्वर के पास सदा रहती ही है।" ध्यान देने की बात यह है कि लेखक को इस बात पर आपत्ति है कि ईश्वर को कुलालवत्

संसार का रचयिता माना जाए। यदि कुलाल (कुम्हार) एक सामान्य शिल्पी है, तो परमात्मा महाशिल्पी हुआ! परन्तु स्वामी दयानन्द की राय में उसे महाशिल्पी कहना भी उचित नहीं है। शिल्पी किसी-न-किसी सामग्री के द्वारा ही किसी वस्तु का निर्माण करता है। यदि यह कहा जाय कि जगत् की उपादानभूत प्रकृतिरूपी सामग्री भी उसी की भाँति नित्य थी, तो स्वामी जी को इस पर भी आपत्ति है। वे एक अद्वितीय ईश्वर से भिन्न किसी अनादि सत्ता की विद्यमानता उस समय तक स्वीकार नहीं करते थे। यह भिन्न बात है कि पश्चात्काल में उन्होंने जगत् की उपादान-सामग्री को भी परमात्मा के तुल्य ही अनादि माना। सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण के लेखक ने ईश्वरव को एक-साथ ही संसार का उपादान, निमित्त और साधारण कारण इस प्रकार कहा—"ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जो सर्वशक्तिमान् होता है, उसमें अनन्त सामर्थ्य-सामग्री होती है। सो वह सामग्री स्वाभाविक है....सो परमेश्वर का अनन्त सामर्थ्य स्वाभाविक ही है, अन्य से नहीं लिया। वह सामर्थ्य अत्यन्त सूक्ष्म है....उसी में वह सामर्थ्य रहता है। उससे सब जगत् को ईश्वर ने रचा है। इससे क्या आया कि भिन्न पदार्थ न लेके जगत् के रचने से उपादानकारण जगत् का परमेश्वर ही हुआ, क्योंकि अपने से भिन्न दूसरा कोई पदार्थ नहीं है कि जिसे लेके जगत् को रचे।" उपर्युक्त उद्धरण में लेखक ने जो तर्कसरणि अपनाई है, वह इस प्रकार है—

1. परमात्मा सर्वशक्तिमान् है।
2. इसलिए वह अनन्त सामर्थ्ययुक्त भी है।
3. अनन्त सामर्थ्यवाला अपनी सामर्थ्य-सामग्री से ही

जगत् की रचना करता है।

4. जब यह सृष्टि की उपादानभूता सामर्थ्य-सामग्री परमात्मा की ही है, अथवा उससे भिन्न नहीं है तो परमात्मा को ही संसार का उपादान मानने में क्या आपत्ति है?

एक और सूक्ष्म बात ध्यातव्य है। परमात्मा को सृष्टि का उपादानकारण मानते हुए भी स्वामी दयानन्द अद्वैत वेदान्तियों की भाँति यह नहीं मानते कि वह परमात्मा स्वयं ही जगत्-रूप बन गया। परमात्मा को ही संसार का निमित्तकारण भी मानने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। अपनी शक्ति से नाना प्रकार के जगत् रचने से तथा दूसरे की सहायता बिना इसे बनाने के कारण उसे निमित्तकारण भी माना जा सकता है। वही परमात्मा इस सृष्टि का साधारणकारण भी है, क्योंकि किसी अन्य पदार्थ के सहाय से जगत् को ईश्वर ने नहीं रचा किन्तु अपनी सामर्थ्य से जगत् को रचा है। इस सारे विवेचन को पढ़कर लेखक के तर्कों की दुर्बलता की ओर अनायास ही ध्यान जा सकता है। "अन्य किसी की सहायता न लेकर वह जगत् की रचना करता है" यही तर्क समान रूप से लेखक ने ईश्वर को संसार के निमित्त तथा साधारण दोनों कारणों के रूप में स्वीकार करने में दिया है। निष्कर्ष-रूप में वह कह देता है कि "जगत् के तीनों कारण परमेश्वर ही हैं, अन्य कोई नहीं।"

इसी अध्याय में आगे लेखक यह स्वीकार कर लेता है कि प्रकृति परमात्मा द्वारा ही रचित है और इसी प्रकृति को अव्यक्त, अव्याकृत, प्रधान आदि नामों से जाना गया है। द्वितीय संस्करणस्थ अष्टम समुल्लास की तुलना में प्रथम

संस्करण का यह विवेचन अत्यन्त साधारण तथा बालिश प्रतीत होती है। सत्यार्थप्रकाश का पुनःसंस्कार करते समय लेखक ने इस अध्याय को सम्पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्तित किया। प्रथम तो उन्होंने ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के मन्त्रों तथा कतिपय अन्य मन्त्रों के आधार पर सृष्टि-रचना के वैदिक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया। पुनः प्रकृति के स्वरूप को सांख्यसूत्र के आधार पर उल्लिखित कर उसे जगत् का उपादान सिद्ध किया। इसी प्रसंग में उपादान, निमित्त एवं साधारण कारण की व्याख्या एवं विवेचना करते हुए अद्वैत सिद्धान्त में मान्य ईश्वर के 'अभिन्न निमित्तोपादान कारणवाद' का खण्डन भी किया गया है। सृष्टि-रचना-विषयक अन्य विषय जो प्रथम बार द्वितीय संस्करण के इस अध्याय में विवेचित हुए, वे हैं—प्रतिकल्प सृष्टि की समानता, सृष्टि के विषय में षड्शास्त्रों का अविरोध, सृष्टि का प्रवाह से अनादित्व, मनुष्य की प्रथम सृष्टि, आर्यों का भारत में आगमन, आर्यावर्त की प्राचीन सीमा, स्वराज्य की महत्ता आदि। सृष्टि-उत्पत्ति-काल, पृथिवी का सूर्य के चारों ओर भ्रमण आदि कतिपय खगोलशास्त्रीय विषय भी द्वितीय संस्करण के इस समुल्लास में आए हैं।

नवम समुल्लास विद्या-अविद्या तथा बन्ध-मोक्ष जैसे आध्यात्मिक विषयों से सम्बन्धित है। प्रारम्भ में ही पातञ्जल सूत्र के आधार पर विद्या एवं अविद्या की व्याख्या करने अनन्तर ग्रन्थकार ने विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षत्व—इन नौ साधनों से मोक्षप्राप्ति बताई है। षड्-दर्शनों के अविरोध को दर्शाने के लिए लेखक ने एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। उसके

अनुसार इन दर्शनों में महाप्रलय की विभिन्न अवस्थाओं को पृथक्-पृथक् रीति से प्रस्तुत किया है। परन्तु इसी विवेचन से ग्रन्थकार के उन दार्शनिक मन्तव्यों की भी जानकारी मिल जाती है, जो आगे चलकर परिवर्तित हुए तथा जिसे आर्यसमाज के परवर्ती दार्शनिकों ने 'वैदिक त्रैतवाद' का नाम दिया। सांख्याचार्य कपिल तथा मीमांसा के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि को अनीश्वरवादी बताने का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार ने सांख्यदर्शन के 'ईश्वरासिद्धेः' आदि सूत्रों का यथार्थ व्याख्यान किया है। कर्मफलों की व्यवस्था के अनुसार जीव को एकाधिक जन्म लेने पड़ते हैं—इस सिद्धान्त की पुष्टि नाना युक्तियों और प्रमाणों से की गई है। साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जो मानव-उत्पत्ति हुई, वह युवावस्था में हुई। इसी प्रसंग में मनुस्मृति के आधार पर विविध प्रकार के कर्मों से प्राप्त होनेवाली विभिन्न योनियों का उल्लेख हुआ है।

पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित्त से पूर्व-कृत पापकर्मों के फल की निवृत्ति तो नहीं होती, किन्तु यह लाभ अवश्य होता है कि जीव भविष्य में अनिष्ट कर्मों के करने से बच जाता है। इसे ही पश्चात्ताप का लाभ माना जा सकता है। लेखक की एक अन्य धारणा यह भी है कि जब अत्यन्त प्रलय होगा तो उस समय न जीवों की सत्ता ही रहेगी और न प्रकृति की ही। एक परमेश्वर ही स्वसामर्थ्य से उस अवस्था में विद्यमान रहेगा। इस उल्लेख से भी यही बात पुष्ट होती है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के लिखे जाने तक स्वामी जी को जीव की उत्पत्ति तथा उसका अत्यन्त प्रलय में विनाश मान्य था। कालान्तर में वे ईश्वर, जीव तथा सृष्टि

की उपादानभूता प्रकृति को अनादि और अविनश्वर मानने लगे। यह तो स्पष्ट ही है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति की धारणा स्वामी जी द्वारा बहुत बाद में स्वीकार की गई थी। इसे सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में ही स्थान मिल सका।

आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य के विषय को सत्यार्थप्रकाश के **दशम समुल्लास** में लिया गया है। विदेश-यात्रा के लाभों का वर्णन करने के पश्चात् लेखक ने इस बात पर बड़ा खेद प्रकट किया है कि आज भोजन के बखेड़े बहुत बढ़ गए हैं जिससे समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। यहाँ लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत के लोग भोजन में स्पृश्यास्पृश्य का अधिक भेद करते हैं। इसी प्रकार उत्तर भारत के कान्यकुब्ज तथा सरयूपारीण-ब्राह्मणों में पाए जानेवाले भोजन-विषयक छूतछात को उन्होंने अनुचित ठहराया। विषय का उपसंहार करते हुए लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि खान-पान का धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। खान-पान आदि व्यवहार तो बाह्य हैं। भोजनादि में स्पृश्यास्पृश्य का भाव आर्य जाति में चल पड़ा, इसका कारण वे इस देश के लोगों की हठधर्मिता एवं मूर्खता को ही मानते हैं। लेखक ने इस अध्याय को समाप्त करते हुए स्पष्ट कर दिया कि भोजनादि के बखेड़ों को स्वीकार करने से ही आर्यावर्त के लोग बल, बुद्धि और पराक्रम से हीन होकर पराधीन बने।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम भाग की समाप्ति दशम समुल्लास के साथ हो गई। इस समुल्लास को समाप्त करने के साथ ही लेखक ने यह भी संकेत दे दिया है कि आगे के अध्यायों में क्रमशः आर्यावर्त में प्रचलित मत जैन, इस्लाम तथा

ईसाइयत् के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा। दूसरे संस्करण में तो उत्तरार्द्ध के प्रत्येक समुल्लास के प्रारम्भ में एक-एक अनुभूमिका लिखकर स्वामी जी ने सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन का विषय लिखने के कारणों को स्पष्ट किया है। प्रथम संस्करण में अनुभूमिकाएँ नहीं लिखी गईं, तथापि लेखक अपने अभिप्राय को स्पष्ट कर देता है कि जब तक मनुष्य सत्यासत्य का विवेक नहीं कर लेता तब तक वह सत्य को ग्रहण करने और असत्य के त्याग में सक्षम नहीं होता।

दशम समुल्लास के इन उपसंहारात्मक वाक्यों से उन आक्षेपकर्त्ताओं की आपत्तियों का भी समाधान हो जाता है, जो यह कहते रहे कि स्वामी जी ने मूल सत्यार्थप्रकाश में मात्र 12 समुल्लास ही लिखे थे और इस्लाम तथा ईसाइयत की आलोचना से सम्बन्धित अध्याय इस ग्रन्थ में बाद में मिला दिये गए। तथ्य यह है कि छापने की शीघ्रता अथवा ग्रन्थ के प्रकाशक राजा जयकृष्णदास की अनिच्छा के कारण इल्लाम और ईसाई मत की आलोचना से सम्बन्धित अवशिष्ट दो समुल्लास प्रथम संस्करण में नहीं छप सके। द्वितीय संस्करण में इनका क्रम बदलकर, अर्थात् ईसाई मत की आलोचना तेरहवें अध्याय में तथा इस्लाम की समीक्षा चौदहवें में रखकर प्रकाशित किये गए हैं।

द्वितीय संस्करण की ही भाँति प्रथम संस्करण में भी एकादश समुल्लास ने ग्रन्थ के सर्वाधिक कलेवर को घेर रखा है। यहाँ यह 88 पृष्ठों में मुद्रित हुआ है। ग्यारहवें समुल्लास का आरम्भ लेखक ने मनु के 'एतद्देशप्रसूतस्य' श्लोक को उद्धृत कर किया है। आर्यावर्त के विगत गौरव

का आख्यान करते हुए ग्रन्थकार ने संस्कृत भाषा की प्राचीनता तथा अन्य देशी एवं विदेशी भाषाओं के इसी भाषा से विकृत अथवा अपभ्रष्ट होकर जन्म लेने की बात कही है। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में संस्कृत के अध्ययन से प्रेरणा पाकर यूरोप के जो संस्कृतविद् नवीन भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों को जन्म दे रहे थे, उनसे स्वामी दयानन्द भी भली-भाँति परिचित थे। तभी तो उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि संसार की भाषाओं की आदि-जननी संस्कृत ही है। संस्कृत-भाषा में विद्यमान ज्ञान, विज्ञान और विद्याएँ ही क्रमशः मिश्र, यूनान, रोम तथा यूरोप के अन्य देशों में गईं, तथा ग्रीक, लैटिन और अंग्रेजी आदि भाषाएँ भी संस्कृत से अपभ्रंश होकर बनी हैं।

लेखक के विचारानुसार महाभारतयुद्ध के काल से इस देश का पतन प्रारम्भ हुआ। भारत राष्ट्र के सर्वतोमुखी अधःपतन की करुण कथा को सत्यार्थप्रकाशकार ने अत्यन्त रोचक ढंग से निबद्ध किया है। महाभारत-काल के पश्चात् ब्राह्मणों के प्रभुत्व में अनायास वृद्धि, प्रतिक्रिया रूप में जैन, बौद्ध आदि अवैदिक मतों का जन्म, शंकराचार्य द्वारा वेदबाह्य नास्तिक मतों का खण्डन, महमूद गजनवी का सोमनाथ पर आक्रमण, इस्लामी शासन की स्थापना, औरंगजेब के अत्याचार, तत्पश्चात् भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना तक का विवरण लेखक ने अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। इस ऐतिहासिक समीक्षा के आधार पर कुछ मनोरंजक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

1. स्वामी दयानन्द इस समय तक जैन और बौद्धों के पारस्परिक भेद को भली भाँति हृदयंगम नहीं कर

पाए थे, अतः उन्होंने यत्र-तत्र बौद्धों के स्थान पर 'जैनों' का नाम प्रयुक्त किया है।

2. उनकी सम्मति में जैन धर्म के प्रमुख दोष इस प्रकार थे : (1) ईश्वर को न मानना, (2) वेदादि सत्य शास्त्रों का खण्डन करना, (3) जगत् की रचना स्वभाव से ही मानना, (4) किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को न मानना।
3. वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के प्रसंग में ग्रन्थकार ने शंकराचार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनके विचारानुसार यदि शंकर को कुछ अधिक आयु मिली होती तो वे देश में वेदविद्या का यथावत् प्रचार कर जाते।
4. पुरातन ऋषियों के नामों से नवीन पुराणों की रचना करना, मूर्तिपूजा का व्यापक प्रचार, फलित ज्योतिष के विश्वास द्वारा पुरुषार्थहीन होना आदि बातों को लेखक ने अत्यन्त जागरूकता से प्रस्तुत किया है।
5. अंग्रेजी राज्य के बारे में अपनी धारणा प्रकट करते हुए लेखक यह स्वीकार करता है कि प्रथम तो इस शासन में प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत स्वीकार करने तथा उसके पालने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस राज्य का एक अन्य गुण यह भी बताता है कि पुस्तकों का मुद्रण आरम्भ हो जाने से प्रत्येक ग्रन्थ सुलभ हो गया है।

इस प्रकार मध्यकालीन धर्म, समाज और जनजीवन में सर्वत्र हुई अधोगति का वस्तुनिष्ठ चित्र अंकित करने के पश्चात् लेखक क्रमशः अन्य साम्प्रदायिक विषयों की समीक्षा

में प्रवृत्त होता है। मूर्तियों में प्राणप्रतिष्ठा, नवग्रह-पूजन, वल्लभ सम्प्रदाय की व्यभिचारमूलक शिक्षाएँ, चक्रांकित सम्प्रदाय, वाममार्ग, साम्प्रदायिक मन्त्र, नानकप्रवर्तित सिख सम्प्रदाय, कबीरपन्थ, दादूपंथ, दशनामी संन्यासी आदि विषयों का प्रबल किन्तु सतर्क खण्डन इस समुल्लास के अधिकांश भाग को घेरे हुए है। धर्म-स्थानों, तीर्थों तथा मठ-मन्दिरों के साथ जो नाना अन्धविश्वास, मिथ्या धारणाएँ तथा चमत्कार आदि जुड़े हुए हैं, उनका समीक्षात्मक मूल्यांकन भी इसी अध्याय में हुआ। तारकेश्वर, रामेश्वर, दक्षिण में कालियाकन्त, जयपुर राज्य की (सीकर के निकट) जीन देवी, कांगड़े की ज्वालामुखी, पञ्चकेदार, बद्रीनाथ, कामाक्षा, बौद्ध गया, काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, विन्ध्याचल, बैजनाथ आदि धर्मस्थानों के साथ जुड़े चमत्कारों का खण्डन किया है। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि अपने देशाटन-काल में लेखक ने स्वयं इनमें से कुछ स्थलों की यात्रा की थी तथा तीर्थों और मन्दिरों से सम्बन्धित मान्यताओं, धारणाओं तथा विश्वासों की निस्सारता को प्रत्यक्ष किया था।

महाभारत में सहस्रों श्लोकों का प्रक्षेप, व्यास के नाम पर अठारह पुराणों की रचना, पुराणों में विद्यमान साम्प्रदायिकता की भावना, शैव, शाक्त और वैष्णवों का पारस्परिक द्वेषभाव जैसे विषयों पर लेखनी चलाने के पश्चात् लेखक ने श्रीमद्भागवत की विस्तृत समीक्षा की है। मध्यकालीन सन्तों और निर्गुण भक्तों के साथ नाना चमत्कारपूर्ण कथाएँ जुड़ गई हैं, उनका परीक्षण एवं समीक्षण भी यहाँ किया गया है। नाभादास-कृत 'भक्तमाल' इस प्रकार की कथाओं का भण्डार है।

प्रथम संस्करण के एकादश समुल्लास का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है। एतद्देशीय विभिन्न मत-सम्प्रदायों की आलोचना एवं समीक्षा करने के पश्चात् लेखक ने तत्कालीन ब्रिटिश शासकों की शासनप्रणाली, न्यायविधान तथा शासित देशवासियों के प्रति उनके व्यवहार की सूक्ष्म आलोचना भी की है। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि इस शासन के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को स्वधर्म-पालन की स्वतन्त्रता तो है ही, धार्मिक विषयों की चर्चा एवं आलोचना-प्रत्यालोचना आदि की पूर्ण आजादी भी है। शिक्षा के प्रचार से भारतवासियों के मानसिक और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार हुआ है तथा आवागमन के साधनों में वृद्धि तथा रेल, तार, डाक आदि से समाचारों के आदान-प्रदान आदि में जो द्रुतता एवं सुगमता आई है वह भी श्लाघनीय है। मुसलमानी शासन-काल की तुलना में उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नागरिक अपने जीवन, घर-बार, परिवार तथा सम्पत्ति को अधिक सुरक्षित समझते थे, इस तथ्य को भी स्वामी दयानन्द स्वीकार करते हैं।

तथापि अंग्रेजी शासन ने भारतवासियों को आर्थिक दृष्टि से कितना विपन्न और दरिद्र बना दिया है, इस ओर भी लेखक का ध्यान गया था। उन्हें इस बात की बड़ी पीड़ा होती है कि सरकार ने नमक जैसी जीवन के लिए आधारभूत वस्तु के उत्पादन पर भी कर लगा दिया है। क्या ही अच्छा होता यदि सरकार मद्य, अफीम, गाँजा और भाँग जैसे मादक द्रव्यों के उत्पादन पर कठोर करों की स्थापना करती। इसी प्रकार जो गरीब ग्रामीण तथा जंगलों के निवासी घास छीलकर बाजार में बेचने के लिए लाते हैं अथवा लकड़ी के भार ईंधन

के रूप में बेचने के लिए लाते हैं, उन पर भी राजकीय शुल्क (चुंगी) लगाना स्वामी जी की दृष्टि में उचित नहीं है। न्यायालयों में चलनेवाले वादों और अभियोगों के समय जो स्टैम्प-ड्यूटी देनी पड़ती है, उसकी आर्थिक गुरुता को भी लेखक ने अनुभव किया था। तभी तो वह कहता है कि "सरकार कागद (स्टाम्प) बेचती है और बहुत-सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है, इससे गरीब को बहुत क्लेश पहुँचता है। सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं।"

निश्चय ही सत्यार्थप्रकाश के लेखक की दृष्टि अत्यन्त दूरगामी तथा मर्मभेदिनी है। अंग्रेजी राज्य की दण्डप्रक्रिया में जो त्रटियाँ थीं तथा दरिद्र-वर्ग जिस प्रकार न्याय प्राप्त करने में कठिनाई अनुभव करता है, यह भी उन्हें ज्ञात था। गरीब आदमी सुगमता से न्याय प्राप्त नहीं कर सकता। न्यायालयों की व्यवस्था के अन्तर्गत एक के बाद एक जिस प्रकार अपीलें होती रहती हैं और अन्तिम न्याय प्राप्त करने तक लोगों के घर बरबाद हो जाते हैं, इसका वस्तुनिष्ठ चित्र भी लेखक ने अंकित किया है। स्वामी दयानन्द के समय में इंग्लैण्ड-स्थित प्रिवि कौन्सिल ही भारतवासियों के लिए सर्वोच्च न्यायालय था और वहाँ तक जाते जाते लोग दिवालिया हो जाते थे।

लेखक के विचार में देश की आर्थिक दशा में सुधार तभी हो सकता है, जबकि कृषि में सहायता पहुँचानेवाले गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं की रक्षा हो। कृषिप्रधान देश में दुधारू पशुओं का विनाश कितना हानिकर हो सकता है, लेखक ने यह आँकड़े देकर सिद्ध किया है। इसी प्रकार पशुओं के लिए चरागाहों की समुचित व्यवस्था करना भी

आवश्यक है। राजा सगर के न्याय की पुराणवर्णित कथा को प्रस्तुत कर लेखक ने व्यंजना से ही यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रजापालन में यदि राजा का पुत्र भी बाधक बने तो वह समुचित दण्ड का पात्र है। न्यायकर्ता राजा के समक्ष दण्ड देते समय स्व-पर का भेद नहीं होता।

सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण की रचना से पूर्व ही स्वामी दयानन्द अपने बंग-प्रवास के समय ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों, क्रियाकलापों तथा मान्याताओं से परिचित हो चुके थे, अतः भारतीय मत-सम्प्रदायों की आलोचना का उपसंहार उन्होंने ब्राह्मसमाज की चर्चा से किया है। लेखक ने ब्राह्म-मतावलम्बियों द्वारा पुनर्जन्म को न मानने, पश्चात्ताप से पापकर्मों के फल की निवृत्ति, वर्णाश्रम-व्यवस्था को स्वीकार न करने, यज्ञोपवीत आदि विद्याचिह्नों का तिरस्कार करने जैसे मन्तव्यों की आलोचना की है। उन दिनों ब्राह्मसमाज के वार्षिकोत्सवों पर अनेक प्रकार की धूमधाम की जाती थी। ब्राह्म-मन्दिरों और उपासना-स्थलों को विभिन्न अलंकरणों से सजाया जाता था, रोशनी की जाती थी, संगीत, व्याख्यान, प्रवचन आदि के आडम्बरपूर्ण कार्यक्रम रखे जाते थे। इन आयोजनों में पर्याप्त व्यय होता था। अपने कलकत्ता-प्रवास के समय स्वामी दयानन्द भी ब्राह्मोत्सव में आमन्त्रित होकर गए थे और उत्सवों के इस आडम्बर को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था। सम्भवतः इसी अनुभव को ध्यान में रखकर उन्होंने ऐसे मेलों और उत्सवों की भी आलोचना की है, जिससे लोगों की बुद्धि बहिर्मुखी हो जाती है और धन का भी अपव्यय होता है।

स्वामी जी के देखते-देखते ब्राह्मसमाज में विग्रह उत्पन्न

हुआ। देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेन के मतभेदों के कारण इस संस्था में विघटन की स्थिति उत्पन्न हुई। परम्पराप्रेमी ब्राह्मों ने ठाकुर महाशय के नेतृत्व में आदि-ब्राह्मसमाज का गठन किया तो तथाकथित प्रगतिशील एवं सामाजिक सुधारों में क्रांतिकारी होने का दम भरनेवाले ब्राह्म केशवचन्द्र सेन को नेता मानकर भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज की वेदी पर एकत्रित हुए। स्वामी दयानन्द ने एक समानधर्मी सुधारक संस्था के इस फूट एवं कलह से उत्पन्न विषाक्त वातावरण को अन्तर्वेदनायुक्त दृष्टि से देखा और अनुभव किया था। ब्राह्मों की निर्गुण-निराकार परमात्मा की उपासना-प्रणाली की प्रार्थना और प्रशंसा करते हुए भी उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया है कि ये लोग ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक, चैतन्य को तो साधु मानते हैं जबकि जैगीषव्य, पंचशिख तथा आसुरि आदि ऋषि-मुनियों की अवगणना करते हैं।